भारतीय संस्कृति

निबंध संग्रह

डा० डी० आर० भट्टाचार्य अखिल भारतीय हिन्दी निबन्ध प्रतियोगिता

संपादक

योगेन्द्र बिहारी लाल माथुर, एम० एस-सी०

रमेश कुमार श्रीवास्तव, बी० एस-सी०, साहित्य मंत्री

प्रयाग विश्वविद्यालय

१९५०

विषय-सूची

भूमिका

प्रस्तुत संग्रह डा० दक्षिणारंजन भट्टाचार्य अखिल-भारतीय हिन्दी निबन्ध प्रतियोगिता में पुरस्कार प्राप्त निबन्धों का संकलन है। प्रतियोगिता सन् १६४८-४६ में तत्कालीन साहित्य-मंत्री श्री योगेन्द्र बिहारी लाल माथुर द्वारा संस्थापित हुई थी। इसके हेतु विश्वविद्यालय के कुलपति तथा इस छात्रावास के वार्डेन, डा० दक्षिणारंजन भट्टाचार्य ने आवश्यक धन प्रदान करने की कृपा की थी। प्रतियोगिता के लिये एक भव्य रनिंग ट्राफी है जो विजयी विश्वविद्यालय को मिलती है।

प्रतियोगिता का प्रथम आयोजन इस वर्ष हुआ। विश्वविद्यालय के कुलपति के संरक्षण में एक प्रतियोगिता-समिति बनाई गई जिसके प्रधान छात्रावास के सुपरिन्टेन्डेन्ट, डा० शम्भु प्रसाद नैथानी, तथा सदस्य डा० बाबूराम सक्सेना डी० लिट०, प्रो० धीरेन्द्र वर्मा, डी० लिट०, डा० गोरख प्रसाद, डी० एस-सी० तथा डा० सत्यप्रकाश, डी० एस-सी० हैं।

प्रतियोगिता के लिये आगरा, काशी, नागपुर, राजपूताना, पटना तथा प्रयाग विश्वविद्यालयों से १६ निबन्ध प्राप्त हुये, जिनका परीक्षण प्रयाग महिला विद्यापीठ की सुश्री प्रकाश अग्रवाल, एम० ए०, प्रयाग विश्वविद्यालय के डा० बाबूराम सक्सेना तथा डा० सत्य प्रकाश ने किया। प्रथम तीन निबन्धों पर एक स्वर्ण तथा दो रजत पदक पुरस्कार दिये गये। एक छात्रा को विशेष पुरस्कार मिला। 'ट्राफ़ी' प्रयाग विश्वविद्यालय को मिली।

निबन्धों का विषय—हमारी संस्कृति और इसकी विशेषतायें—सामयिक महत्व का है। सभी लेख प्रयत्नपूर्वक लिखे गये, विचारपूर्ण एवं उच्चकोटि के हैं। इसके अतिरिक्त इस महत्वपूर्ण विषय पर अनेक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। अतः इन्हें प्रकाशित करने का आयोजन किया गया। इसमें हमें विश्वविद्यालय से आर्थिक सहायता मिली।

प्रथम तीन निबन्ध लगभग ज्यों के त्यों दिये गये हैं। विशेष पुरस्कार प्राप्त निबन्ध कुछ संक्षिप्त कर दिया गया है। स्थानाभाव के कारण अन्य निबन्धों में से स्फुट-विचारों के संकलन से ही हमें संतोष करना पड़ा। अधिक से अधिक विभिन्न दृष्टि कोणों को प्रस्तुत करने का प्रयत्न हमने किया है।

भारतीय संस्कृति पर यह विचार-संकलन सर प्रमदाचरण बनर्जी छात्रावास प्रकाशन की प्रथम भेंट है। हमें विश्वास है कि यह लाभदायक सिद्ध होगा।

इस प्रतियोगिता में तथा निबन्धों के प्रकाशन में सहायता के लिये हम कुलपति, डा० दक्षिणारंजन भट्टाचार्य तथा प्रतियोगिता-समिति के सदस्यों को धन्यवाद देते हैं। इस छात्रावास के सदस्य श्री सत्यदेव प्रतियोगिता के आयोजन में सहायक हुये। हम उनके कृतज्ञ हैं। छात्रावास के सुपरिन्टेन्डेन्ट इस कार्य में समय समय पर हमें सहायता एवं प्रोत्साहन देते रहे हैं अतः हम उनके विशेष आभारी हैं।

सम्पादक

हमारी संस्कृति और इसकी विशेषताएं

श्री बदरी नारायण श्रीवास्तव
प्रयाग विश्वविद्यालय
(स्वर्ण पदक प्राप्त)

'संस्कृति सौन्दर्य-बोध के विकसित होने की मौलिक चेष्टा है।' 'कृ' धातु में 'सम्' उपसर्ग लगाने से 'संस्कृति' शब्द बना है। इसका शाब्दिक अर्थ है कोई 'अच्छी बनी हुई वस्तु'। वस्तुतः संस्कृति के मूल में उन्नति की भावना विशेष है। 'सभ्यता' और 'संस्कृति' दो साथ-साथ चलने वाले शब्द हैं किन्तु इनमें से पहले की उत्पत्ति तो प्राचीन पारिभाषिक शब्द 'सभा' से हुई है, अर्थात् इस 'सभा' में उपस्थित होने की योग्यता जिसमें हो वह सभ्य कहा जाता था। यह योग्यता अधिकांशतः व्यक्ति के बहिरंग से सम्बद्ध थी।

'संस्कृति' इसके ठीक विपरीत व्यक्ति के अंतरंग से विशेष सम्बद्ध है। उसके पीछे एक गहराई है। किसी देश की संस्कृति से हमारा तात्पर्य वहां के रहने वालों के उन विचारों एवं प्रयत्नों से होता है जो उन्हें समुन्नत करने के लिये उस देश में चल पड़े थे। महादेवी जी के शब्दों में यदि हम कहना चाहें तो कह सकते हैं—"संस्कृति की कोई एक परिभाषा देना कठिन हो सकता है क्योंकि न वह किसी जाति की राजनैतिक व्यवस्था मात्र होती है और न केवल सामाजिक चेतना; न उसे नैतिक मर्यादा मात्र कह सकते हैं और न केवल

धार्मिक विश्वास। देशविशेष के जलवायु में विकसित किसी जाति विशेष के अन्तर्जगत और बाह्य जीवन का वह ऐसा समष्टिगत चित्र है जो अपने गहरे रंगों में भी अस्पष्ट और सीमा में भी असीम है वैसे ही जैसे हमारे आँगन का आकाश। *यह सत्य है कि संस्कृति की वाह्य रूप रेखा बदलती रहती है परन्तु मूल तत्वों का बदल जाना तब तक संभव नहीं होता जब तक उस जाति के पैरों के नीचे से वह विशेष भूखंड और उसे चारों ओर से घेरे रहनेवाला वह विशिष्ट वायुमंडल ही न हटा लिया जाय'*। इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृति का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। फिर भी अध्ययन की सुविधा के लिये किसी देश की संस्कृति का ज्ञान निम्नलिखित शीर्षकों में सीमाबद्ध किया गया है। किसी देश की संस्कृति को जानने के लिये सबसे पहले वहाँ के साहित्य और भाषा का अध्ययन किया जाता है। सुविधा के लिये साहित्य को भी उपयोगी और ललित दो भागों में विभक्त किया गया है। इसके साथ ही उस देश के धर्म और दर्शन का भी अध्ययन होना चाहिए। धर्म के अन्तर्गत ही दार्शनिक विचार-प्रणाली आती है। दर्शन में जीव, प्रकृति और ईश्वर की समस्या सुलझाई जाती है। धर्म का दूसरा अंग है नैतिक-सिद्धान्तों अथवा नियमों की प्रतिष्ठा। धर्म का तीसरा अंग है कर्मकाण्ड और धर्म का चौथा अंग है धार्मिक कर्मकाण्ड सम्बंधी कला। वस्तुतः मन्दिरों में संगीत, चित्र, मूर्ति, नृत्य आदि कला का सदैव ही समावेश या प्रयोग रहा है। संस्कृति का तीसरा प्रमुख अंग उस देश की राजनीतिक एवं भौगोलिक अवस्थाओं का अध्ययन है। और चौथा अंग है उस देश के समाज का अध्ययन। इसके भीतर सामाजिक संगठनों का अध्ययन, आर्थिक व्यवस्था का अध्ययन तथा शिक्षा एवं कला का अध्ययन आता है। भारत की संस्कृति का इन्हीं दृष्टियों से हमें यहाँ अध्ययन करना है।

भारतीय संस्कृति का विकास—वैदिक काल

भारतीय संस्कृति की प्राचीनता की अभी तक कोई निश्चित सीमा नहीं बांधी जा सकी। इस दिशा में हमारा अध्ययन अनुमान सापेक्ष्य एवं अधूरा है। अतः यहाँ हम आर्य संस्कृति के विकास ही का अध्ययन कर सकेंगे। वैदिक

संस्कृति के मूल स्थान के विषय में भी विद्वानों में मतभेद है। वस्तुतः हमारे साहित्य में इसका कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता कि आर्य कहीं बाहर से आए। वैदिक वर्ण व्यवस्था आज भी शिमला की पहाड़ियों में पाई जाती है, जो भी हो इतना तो निश्चित है कि वैदिक संस्कृति का एक केन्द्र सरस्वती नदी के तट पर था। साथ ही यह भी निश्चित है कि वैदिक संस्कृति का प्रचार १२०० ई० पूर्व तक रहा। वैदिक काल का सबसे प्राचीन ग्रंथ ऋग्वेद संहिता है। इसमें १० मंडल हैं, पहला, ८ व ९ वां और दसवां बाद के संकलित मंडल माने जाते हैं। अंतिम संकलन कदाचित् १२०० ई० पू० हुआ। वैदिक कालीन अर्थ-परम्परा हमें ठीक ज्ञात नहीं। इसे जानने की यौगिक या नैसक्तिक प्रणाली, कर्मकाण्डी प्रणाली, और ऐतिहासिक प्रणाली आदि तीन प्रणालियों का प्रयोग किया जाता है। वास्तव में वेदों का अर्थ इन तीनों के समन्वय से ही संभव होगा। वैदिक भाषा स्वराघात प्रधान है। वैदिक छंदों में गायत्री, अनुष्टुम्, त्रिष्टुम्, अधिक प्रमुख हैं।

जहां तक धर्म और दर्शन का संबंध है वैदिकयुग में न तो त्रयी की भावना मिलती है और न राम, कृष्ण, शिव, शक्ति आदि का ही उल्लेख है। तपस्या, भक्ति और कर्मफल की भावना भी प्रधान नहीं। देवताओं के मंदिर और उनकी मूर्ति आदि बनाने की भावना भी वहां नहीं। हाँ, हमें वहां देवत्ववाद अवश्य मिलता है। इनमें प्राकृतिक शक्तियों की मूल भावना थी। इनके पीछे एक शक्ति की कल्पना भी थी जो यह प्रकट करती है कि वैदिक आर्य अनेकता से एकता की ओर बढ़े, एकता से अनेकता की ओर नहीं। वैदिक युग के देवताओं में इन्द्र, अग्नि और सोम क्रमशः सर्व प्रमुख हैं। तीन पदों में द्युलोक पार करने वाले विष्णु, पौराणिक शिव के मूल पुरुष रुद्र और ब्रह्मा के मूल पुरुष प्रजापति की यहाँ कल्पना मिलती है। वैदिक युग में सर्वदेवत्ववाद की भावना ही प्रमुख रही। यहीं हमें अद्वैत, द्वैत और त्रैतवाद के बीज मिलते हैं। मैक्समूलर इसे henotheism भी कहते हैं पुनरागमन और कर्म फल की भावना का यहाँ पता नहीं। स्वर्ग नर्क की भी कल्पना नहीं। नैतिक आदर्शों पर काफी बल

दिया जाता था। शम की महिमा, आतिथ्य का महत्व आदि सर्वमान्य थे। अतः सत्य की कल्पना भी यहीं मिलती है।

वेदों की राजनीतिक परिस्थिति स्पष्ट नहीं। जनपद एक प्रदेश का नाम होता था। जनपद के घरों के समूह को 'ग्राम' कहते थे। 'संग्राम' इन के एकत्र होने को ही कहते थे। ग्रामणी ग्राम का मुखिया था। प्रधान नगरों को 'पुर' कहते थे। जनपद का अधीश्वर राजा था। उसकी सहायता के लिये अधिकारी वर्ग (पुरोहित, सेनापति, ग्रामणी आदि), सभा, समिति आदि थीं।

वैदिक काल में वर्ण व्यवस्था न थी किन्तु वर्ग व्यवस्था थी। पुरोहित, राजन्य, आदि प्रमुख वर्ग थे। अनार्य 'दस्यु' कहे जाते थे। आवश्यकतानुसार प्रत्येक व्यक्ति कोई भी कार्य कर सकता था। समाज में स्त्रियों का ऊँचा स्थान था, गृहिणी होना उनका आदर्श था। विवाह के संबंध में लड़के लड़कियाँ स्वतंत्र थी। बाल-विवाह, पर्दा आदि नहीं थे। विधवा विवाह प्रचलित था। आर्यों का प्रधान भोजन निरामिष था। फिर भी सुरा पायी एवं माँसाहारी पर्याप्त मिलते हैं। प्रधान भोज्य अन्न गेहूं था। वेष सादा था। ऊनी-सूती कपड़ों के अलावा चमड़े के कपड़ों का भी व्यवहार किया जाता था। आभूषणों में हार, कुंडल, केश के उदाहरण मिलते हैं। कर्ण वेध संस्कार आवश्यक था। सभी पुरुष केश रखते थे। डाढ़ी बनाई जाती थी। घोड़े की दौड़, संगीत, वाद्य आदि का भी उल्लेख मिलता है। सोमपान और जुआ दो व्यसन थे।

आर्यों की आजीविका कृषि प्रधान थी, पशुपालन प्रधान था। गाय, बैल, घोड़ा पालतू पशु थे। व्यापार वस्तु विनिमय के रूप में था। शिल्पों में बढ़ई, लोहार ऊनी सूती कपड़ा बुनने वाले आदि तथा चमड़ा रंगने वालों के उल्लेख मिलते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक संस्कृति समस्त भारतीय संस्कृति का मूलाधार है। यह प्रकृति के अधिक निकट है। यह प्रवृत्ति-प्रधान है। तपस्या, त्याग, वैराग्य को श्री सुनीति कुमार चटर्जी ने अनार्य भावना माना है।

ब्राह्मणकाल

वैदिक काल के उपरान्त हम ब्राह्मण काल में प्रवेश करते हैं। इसका समय १२०० ई० पू० से ६०० ई० पू० तक है। इस काल में अथर्ववेद संहिता, सामवेद संहिता, यजुर्वेद संहिता आदिवैदिक ग्रन्थों की सृष्टि हुई। उपनिषदों में ऐतरेय, छान्दोग्य, वृहदारण्यक आदि हैं। महाभारत तथा रामायण की रचना का प्रारम्भ इसी काल में हुआ। देवताओं का स्थानगौण हो गया। प्रजापति, रुद्र, विष्णु आदि प्रमुख देवता हो गये। कर्मकाण्ड की प्रमुखता इस युग में हुई। पशुवलि इसमें प्रयुक्त थी। दार्शनिक विचारावली का इस युग में उपनिषदों में निश्चित विकास हुआ। अद्वैतवाद, पुनर्जन्म, कर्मफल की भावना भी मिलती है। जादू, टोना, टोटका का भी इस युग में प्रवेश हुआ।

वर्ण-व्यवस्था का इस युग में विकास हुआ। शूद्र भिन्न वर्ग था। भोजनादि में कोई प्रतिवन्ध नहीं था। ब्राह्मणों में आश्रम धर्म की व्यवस्था थी। प्रत्येक वर्ण इसका पालन करता था, ऐसा प्रमाण नहीं। इस काल में विवाहों में माता-पिता का अधिकार वढ़ा। स्त्रियों का स्थान भी नीचा हुआ। तपस्या में वह बाधक समझी गयीं। शिक्षा के तीन केन्द्र थेः राजदरवार, परिषद् और गुरुकुल संस्था। साथ ही प्रत्येक वर्ग पारिवारिक शिक्षा भी देता था।

इसकाल का पूर्ण राजनीतिक चित्र हमें ज्ञात नहीं। वैदिक काल की जनपद संस्था महाजनपद के रूप में विकसित हुई। राज्य संस्था तथा प्रजातंत्र संस्था में विकास हुआ। राज्यव्यवस्था पौर और जानपद नामक दो संस्थाओं द्वारा होती थी। चक्रवर्तित्व की भावना का इस युग में विकास हुआ। आर्य संस्कृति का प्रवेश दक्षिण भारत में भी हुआ। अगस्त्य, परशुराम, रामचंद्र की दक्षिण-यात्रा तथा श्रीकृष्ण का द्वारका जाना आदि इस ओर संकेत करते हैं।

बौद्ध काल

ब्राह्मणकाल के समाप्त होते-होते हम बौद्धकाल में एक नूतन आदर्श एवं चेतना की स्फूर्ति पाते हैं। इसकाल में संस्कृति के केन्द्र कोशल, काशी और मगध के जनपद (सभी पूर्व में) हो गए। शिल्पलेखों, सिक्कों, प्राचीन भग्नावशेषों से इस युग का इतिहास हमें सुलभ सा होगया है।

इसयुग का इतिहास बहुमुखी है। इसके प्रमुखतया तीनभाग हैं: संस्कृत सूत्रग्रन्थ, संस्कृत आख्यान काव्य, पालीका बौद्ध-साहित्य। संस्कृत सूत्रग्रन्थों की तीन श्रेणियाँ हैं, (१) वैदिक-सूत्र (२) स्मार्त सूत्र (३) दर्शनसूत्र। सांख्य और न्याय द्वैतवादी तथा वेदान्त अद्वैतवादी हैं। संस्कृत आख्यान काव्यों में रामायण (वाल्मीकि) और महाभारत (व्यास) प्रसिद्ध हैं। इन काव्यों का निर्माण कई स्तरों में हुआ है। भारत की बाद की संस्कृति को इन्होंने खूब प्रभावित किया है। इसकाल का सबसे प्रमुख साहित्य पाली का बौद्ध साहित्य है। महाभारत काल की संस्कृति से इसमें पर्याप्त भिन्नता है। बौद्ध-साहित्य सुत्त पिटक, विनय पिटक और अभिधम्म पिटक में संगृहीत है।

वैदिक धर्म को मीमांसकधर्म, वैदिक धर्म अथवा स्मार्त्त धर्म के नाम से पुकारा जाता था। वेद इस काल में भी स्वतः प्रमाण माना जाता था, वैदिक भाषा पवित्र मानी जाती थी, ईश्वर विश्वास की भावना थी, कर्मकाण्ड प्रमुख हो गया, जन्मगत वर्ण-व्यवस्था प्रमुख हो गयी और इसके फलस्वरूप तीन आन्दोलन चल पड़े। वे बौद्ध-सुधार आन्दोलन, जैनसुधार आन्दोलन तथा वासुदेव सुधार आन्दोलन थे। बाद को यह आन्दोलन धर्म में परिवर्त्तित हो गया। बौद्ध-दर्शन भी एक विशिष्ट दर्शहोन।गया

महाजनपद की संस्था इस काल में लुप्त हो गयी। नन्दवंश के काल में सिकन्दर का आक्रमण हुआ। इससे साम्राज्य स्थापन की भावना बढ़ी। मौर्यसाम्राज्य इसी काल में स्थापित हुआ, साम्राज्य-स्थापन की भावना से प्रजातंत्र की भावना लुप्त हो गयी। सभा या समिति का नियन्त्रण राजा पर कम हो गया। इस पर ग्रीक सभ्यता और संस्कृति का भी प्रभाव पड़ा।

शासन-संगठन जटिल हो गया। इस युग के उत्तरार्द्ध में साम्राज्य शक्ति क्षीण होने लगी।

इसकाल में वर्ण व्यवस्था दृढ़ हुई। अन्तर्वर्ण विवाह नहीं होता था। अनार्यों के कारण अनेक नयी जातियाँ बनीं। आश्रम व्यवस्था सिद्धान्तमात्र में रह गयी। तक्षशिला शिक्षा-केन्द्र था। व्यापार इस काल में जहाज द्वारा विदेशों से होने लगा। विशाल मकानों एवं भवनों का निर्माण हुआ। अशोक के स्तम्भों से कला की उत्कृष्टता का भी पता लगता है। नैतिक दृष्टि से साधारणतया समाज का ऊँचा स्तर था।

हमारी संस्कृति का मध्ययुग

इसकाल के उपरान्त १ ई० से हमारी संस्कृति का मध्ययुग प्रारम्भ होता है। १ ई० से ६०० ई० तक के काल को पौराणिक काल कहा जाता है। इसकाल में आदियुग के वैदिक साहित्य के स्थान पर लौकिक संस्कृत की प्रधानता हुई। अपभ्रंश और प्राकृत का प्रारम्भ हुआ। वैदिकधर्म के स्थान पर पौराणिक धर्म की स्थापना हुई। गुणकर्म-स्वभाववाली वर्ण व्यवस्था अब जातिगत हो गई। राजनीति के क्षेत्र में जनपद-व्यवस्था के स्थान पर साम्राज्य संस्था विकसित हुई। जनमत और जनपद प्रणालियाँ एक प्रकार से लुप्त हो गयीं।

इसकाल में वैदिक कर्मकाण्ड औरवैदिक धर्म वर्ग विशेष का धर्म हो-गया। बौद्धों में हीनयान और महायान दो शाखाएँ हो गयीं। महायान का प्रभाव भारत के बाहर विशेष पड़ा। नागार्जुन इसके प्रसिद्ध विद्वान् थे। हीनयान का प्रचार अशोक द्वारा हुआ। कुशनवंश द्वारा महायान चीन, जापान आदि देशों में गया। तिब्बत में इसका प्रचार सातवीं सदी में हुआ। लंका, ब्रह्मा, स्याम कंबोडिया में हीनयान फैला। महायान संस्कृत में लिखा गया। दर्शन, कर्मकाण्ड, बुद्धभक्ति इसके प्रधान अंग थे। इस विचारधारा का हम पर अस्पष्ट प्रभाव भी पड़ा। महायान बौद्ध धर्म की प्रतिक्रिया के रूप में पौराणिक-धर्म की स्थापना हुई। इसमें अधिकतर बौद्धधर्म का अनुकरण था। इसकाल के उत्तरार्द्ध

(३००ई०-६००ई०) में गुप्त-साम्राज्य की स्थापना हुई। संस्कृत साहित्य और पौराणिक धर्म का इसकी छत्रच्छाया में विशेष विकास हुआ। गुप्त-साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र, उज्जैन, अयोध्या में थी। यह भारत का स्वर्ण युग माना जाता है। फ़ाह्यान ने इस युग पर पर्याप्त सामग्री दी है।

इसकाल में उपजातियों की संख्या बढ़ी। अनार्य, विदेशी, प्रवासी आदि नयी नयी जातियों में परिणत हुए। धार्मिक भेदों (बौद्ध, जैन, पौराणिक) के कारण भी उपजातियाँ बनी। स्त्रियाँ इसकाल में पुरुषों के आधीन हो गयीं। साहित्य के क्षेत्र में ललित और उपयोगी दोनों ही प्रकार का साहित्य निर्मित हुआ। आर्यभट्ट ने इसी समय सिद्ध किया कि पृथ्वी गोल है। बराहमिहिर का ग्रन्थ 'पंचयातिका' सुस्रुत और चरक के चिकित्सा शास्त्र, मानसार आदि इस काल की श्रेष्ठ रचनाएँ हैं।

इस काल में हमारा व्यापार विदेशों (अफ्रीका, चीन, पूर्वीद्वीप, इटली) से बढ़ा। उपनिवेश भी स्थापित किए गए। कला के क्षेत्र में हम बौद्ध प्रभाव विशेष पाते हैं। ग्रीक प्रभाव भी था। सांची के स्तूप और तोरण, अजन्ता और एलोरा की कुछ गुफाएँ, जिनमें चित्रकला और मूर्तिकला प्रधान है, इसी काल में बनी।

पौराणिक-काल के उपरान्त हम तांत्रिक-काल में प्रवेश करते हैं। इस काल में मौलिकता कम, अनुकरण विशेष था। लौकिक साहित्यिक-परम्परा चलती रही। दर्शन में अवश्य ही कुछ प्रसिद्ध टीकाएँ लिखी गयीं। काव्य ग्रन्थों में अनेक मौलिक रचनाएँ मिलती हैं। गद्य में सुबन्धु की 'वासवदत्ता' बाणभट्ट की 'कादम्बरी', नाटकों में भवभूति का 'उत्तर रामचरित' (८ वीं सदी), राजशेखर का 'कर्पूरमंजरी' (१० वीं सदी) आदि कुछ प्रसिद्ध रचनाएँ इसी काल में हुई। इसकाल में रस और विषय की अपेक्षा शैली का अधिक महत्व हुआ। कवि आचार्यत्व से विशेष प्रभावित हैं।

धर्म के क्षेत्र में वैदिक या मीमांसक धर्म का प्रायः लोप हो गया। दक्षिण के आचार्यों ने वैष्णवदर्शन और भक्ति का विकास इसी काल में किया।

तान्त्रिक-धर्म अवश्य ही इसकाल में प्रमुख रहा। इस विचारधारा का प्रारम्भ अनार्य धर्म के प्रभाव स्वरूप हुआ। इसी काल में इस्लाम का प्रथम प्रवेश भारत में (७१२ ई०) हुआ। १२०० ई० के लगभग मुहम्मद गोरी गंगा की घाटी तक आया। पंजाब मुसलमानों के शासन में चला गया। पर इस संस्कृति पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ा।

इस काल में प्रदेश (श्रीवास्तव, सरयूपारीण) और व्यवसाय के आधार पर जातियाँ बनीं। स्त्रियाँ चित्रकला एवं संगीत कला में विशेष प्रवीण होती थीं। उनका विवाह बड़ी उम्र में होता था। पातिव्रत की भावना एवं सती-प्रथा का प्रचलन इसी काल में हुआ। अन्तर्जातीय विवाह कम हो गया, पिछले काल की शिक्षा संस्थाएँ चलती रहीं। नालन्द में १०००० विद्यार्थी एव १५०० अध्यापक थे। शिक्षा के विषय धर्म एवं दर्शन थे।

कला की प्राचीन परम्परा चलती रही। काशी, मथुरा, दिल्ली, कान्यकुब्ज, अयोध्या, पाटलि-पुत्र के प्राचीन अवशेष मुसलमनों द्वारा नष्ट कर दिये गए। विन्ध्यप्रदेश के कुछ अवशेष, छत्रपुर और खुजराहो के मन्दिर आज भी वर्तमान हैं। इसकाल में समाज वैभव एवं ऐश्वर्य से पूर्ण था। परिश्रम और संवर्षण करना लोग भूल गए थे।

हमारी संस्कृति का संकटकाल

तांत्रिक-काल के उपरान्त हम भक्ति-काल (१२०० ई०-१८०० ई०) में प्रवेश करते हैं। इस काल में आकर प्राचीन साहित्यिक परम्पराएँ शिथिल हो गयीं। संस्कृत साहित्य का पठन-पाठन सीमित हो गया। इस युग में सिद्धों का अपभ्रंश साहित्य भी मिलता है। जैन ग्रन्थ भी अपभ्रंश में लिखे गए। हिन्दी प्रदेश में व्रज, अवधी, खड़ी बोली, मैथली डिंगल आदि भाषा में ही रचनाएँ हुईं। इस काल का यही प्रतिनिधि साहित्य है।

इस काल में प्राचीन धर्म, बौद्ध धर्म, जैनधर्म आदि लुप्त हो गए। पौराणिक धर्म के एक परिवर्तित रूप में आर्य की भावना का विकास हुआ और हम अवतारवाद का प्रचार पाते हैं। कुछ निर्गुणवादी भी थे। साहित्य, धर्म

और व्यक्ति एक दूसरे से अधिकाधिक निकट आ गए। अद्वैतवाद को सभी ने अपनाया था। समाज-सुधार की भावना इन भक्तों में अधिक थी। अस्पष्टतया मुसलमानी विचारधारा के कारण एकेश्वरवाद की भावना को बल मिला। गुरु का महत्व, सुधार भावना आदि इसी की प्रेरणा के परिणाम थे।

इसकाल में गंगा की घाटी में विदेशी मुसलमानी शासन की स्थापना हुई। हिन्दू राजा पहाड़ों की तरफ चले गए। सुल्तानों के बाद मुगल साम्राज्य की स्थापना हुई। यह राज्य लगभग २५० वर्ष तक चलता रहा। सिख, गोरखा, महाराष्ट्री आदि जातियों ने इस काल में भी राज्य स्थापना के पृथक-पृथक प्रयत्न किए और मरहटों को पर्याप्त सफलता मिली। १८००ई० के लगभग हिन्दुओं के हाथ में राजनीतिक शक्ति आकर पुनः एक दूसरी विदेशी शक्ति के हाथ में चली गई। ये नये विदेशी अंगरेज थे। फिर भी सिख, मराठे आदि अपना राज्य बहुत दिनों तक कायम रख सके। इसकाल में एक बड़ी विचित्र बात यह थी कि यद्यपि दिल्ली, आगरा के केन्द्रों में मुसलिम शासन चलता रहा किन्तु गाँवों, कसबों की राजनीतिक सत्ता जमीन्दारों आदि के हाथ में थी। इसकी विशेषता यह रही कि जनता एवं शासक वर्ग ने केन्द्र के विरुद्ध कई बार आवाज उठाई और यह प्रयत्न बराबर बना रहा।

इसकाल में बिरादरियों की स्थापना हो गयी, इसका कारण तत्कालीन परिस्थतियाँ थी, इस संस्था ने हिन्दुओं के धर्म की रक्षा की। स्त्रियों की परिस्थिति इसकाल में गिर गयी। विदेशियों के कारण स्त्रियों की रक्षा के लिए बाल विवाह, परदा की प्रथा आदि चल पड़ी। परदा मुसलमानों के अनुकरण पर आया। सती की प्रथा भी इसी काल में चल पड़ी। विधवा रक्षा एक बड़ी समस्या थी अतः जौहर की प्रथा भी चली।

इसकाल में राष्ट्रीय शिक्षा-व्यवस्था नहीं थी। पाठशालाएँ थीं और एक गुरु दस-बीस विद्यार्थियों को एकत्रित कर पढ़ाता था। ज्ञान में कोई वृद्धि नहीं हुई। प्राचीन ज्ञान भी बहुत कुछ खो गया। राजदरबार विदेशी और स्वदेशी कला के केन्द्र थे। हिन्दू दरबार छोटे केन्द्र थे। कला के क्षेत्र में

विदेशी दृष्टि कोण फैला। वास्तु, चित्र, संगीतादि में भारतीय दृष्टि कम रही। वीणा मृदंग के स्थान पर सितार और तबला आया। ध्रुपद के स्थान पर ख्याल और दादरा आया। कलाकारों में अधिकांश भारतीय थे।

वर्त्तमान काल

भक्ति काल के उपरान्त हम नवयुग में प्रवेश करते हैं। १२०० ई० से लेकर १८०० तक का काल हमारी संस्कृति के संकट का काल था। इस लिये १८०० ई० के बाद अंगरेजी राज्य के एक प्रकार से स्थापित हो जाने पर पुनरुत्थान की ओर भारतीयों ने पुनः दृष्टि फैलाई। इस काल में वैदिक तथा संस्कृत साहित्य का अध्ययन अधिक व्यापक रूप से हुआ। प्राचीन साहित्य का नये दृष्टिकोण से अध्ययन भाषा साहित्य के विकास में सहायक ही हुआ। पाली और बौद्ध साहित्य का भी अध्ययन हुआ। इस काल में अंग्रेजी साहित्य के भी और उसके माध्यम द्वारा अन्य विदेशी साहित्य के भी संपर्क में हम आए। इससे हमारा दृष्टिकोण व्यापक एवं उदार हो गया। समस्त भारतीय भाषाओं के विचार एवं शैली पर अंग्रेजी का पुष्कल प्रभाव पड़ा।

इस काल में परम्परागत धर्म को सुधारने के लिए १९ वीं सदी में कई सुधार-आंदोलन चले, जिनमें ब्राह्म समाज, प्रार्थना समाज, थियासोफिकल रेलिजन, आर्य समाज आदि कुछ प्रमुख संस्थाएँ थीं। इनमें आर्य-समाज का प्रभाव अधिक व्यापक रहा। दार्शनिक दृष्टि से आर्य-समाज ने न्याय-वैशेषिक के द्वैतवादको माना है। इसने वैदिक युग की भाषा, साहित्य, धर्म, संस्कृति का प्रचार करना चाहा। मध्य-युग स्वामी दयानन्द की दृष्टि से हमारे पतन का युग था। समाज-सुधार धर्म का एक अंग माना गया। इस सुधार आन्दोलन ने प्रान्तीय भाषा को अपने प्रचार का माध्यम बनाया। कला का इसमें अभाव है।

पिछले वर्षों में स्वतंत्रता प्राप्त करने के अनेक उद्योग होते रहे हैं। इनमें मध्यमवर्ग एवं निम्नवर्ग ने प्रमुख भाग लिया। कांग्रेस की स्थापना से यह

उद्योग और भी प्रबल हो गया। इस काल की प्रमुख घटनाएँ १९२१ का असहयोग आन्दोलन, ३०,३१ का सत्याग्रह आन्दोलन, १९४२ का स्वतंत्रता आन्दोलन आदि हैं। १९४७ में देश स्वतन्त्र हो गया। इस काल के प्रमुख व्यक्ति गांधी जी रहे। उनका राजनीतिक सन्देश था कि जनसत्ता ही प्रमुख होनी चाहिए, सामूहिक प्रयत्न और त्याग को महत्व दिया जाय। अहिंसा और सत्य के नैतिक सिद्धान्तों का राजनीति में प्रयोग किया जाय। खेद है ३० जनवरी, ४८ को एक भारतीय (नाथूराम गोडसे) द्वारा ही गांधी जी को गोली मार दी गयी।

समाज के क्षेत्र में पुनरुत्थान की भावना इस काल में पुनः पल्लवित हुई। जाति विरादरी प्रथा क्रमशः शिथिल हो रही है। उच्च वर्ग और निम्नवर्ग की समस्या की ओर भी लोगों का ध्यान गया। स्त्रियों का स्थान समाज में पुनः ऊँचा हो गया। वैदिक और पाश्चात्य प्रभाव इसके मूल में हैं।

शिक्षा का प्रबन्ध अंग्रेजी माध्यम द्वारा हुआ। गुरुकुल और विद्यार्थियों की स्थापना होने के साथ-साथ स्कूलों, कालेजों एवं विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। इस प्रकार हमारी शिक्षा का भविष्य ऊँचा है। कलाओं में चित्रकला, संगीत कला आदि का पर्याप्त प्रचार हुआ। बंगाल स्कूल आव् पेंटिंग, बाम्बे स्कूल आव् पेंटिंग आदि प्रमुख स्कूल थे। भारतीय घरों की बनावट एवं सजावट में भातीयता नहीं रही। पाश्चात्य प्रभाव जीवन के सभी क्षेत्रों पर पड़ा।

आर्थिक दृष्टि से हमारा देश निम्नतम स्तर तक पहुँच गया था। स्वराज्य-प्राप्ति के उपरान्त उद्योग-व्यवसाय की ओर ध्यान दिया जाने लगा है।

नैतिक दृष्टि से हमारा देश काफी पतित हो गया। प्रारम्भ में यह प्रभाव नगरों तक ही सीमित रहा किन्तु अब गावों में भी यह पतन फैल गया।

विशेषतायें

इस प्रकार अपनी संस्कृति को समय के विशाल फलक पर चित्र की भांति खिंचे रूप में देखकर हम सहज ही उसकी विशेषताएँ जान सकते हैं।

वस्तुतः हमारी संस्कृति की सभी विशेषताएँ उपर्युक्त इतिहास द्वारा पर्याप्त स्पष्ट भी हो गयी होंगी। फिर भी मोटे तौर पर हम अपनी संस्कृति की कुछ विशेषताओं को अलग भी संक्षेप में रख देना चाहते हैं।

समन्वयात्मक दृष्टि

हमारी संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह जीवन के दोनों छोरों—लौकिक एवं पारलौकिक—को छूती चलती है। जीवन-भौतिक जीवन—को सत्य मान कर उसकी समस्याओं पर विचार करना और साथ ही उसके अलौकिक रूप के विषय में चिन्ता करना भारतीयों का एक प्रधान गुण रहा है। यही कारण है कि हमने जहाँ एक ओर गूढ़ दार्शनिक विचारों (शंकराद्वैत) की सृष्टि की वहीं कामसूत्रों (वात्स्यायन) की भी रचना की। इस प्रकार इन दोनों छोरों में सामंजस्य स्थापित करने का हमने प्रयत्न किया और इसमें हम कभी सफल रहे और कभी असफल। हम आज भी उसी पथ की खोज में बढ़ते चले जारहे हैं।

व्यक्तित्व की रक्षा

हमारी संस्कृति की दूसरी विशेषता यह है कि वह विभिन्न विरोधी प्रभावों के बीच भी अपने व्यक्तित्व की रक्षा कर सकी है। यही कारण है कि बौद्ध-जैन सुधार आन्दोलन, शक, सिथियन, हूण आदि प्राचीन विदेशी जातियाँ मुसलमानी शासकों का धार्मिक अत्याचार, ईसाई धर्म प्रचार आदि विदेशी आन्दोलनों के बीच भी हम भारतीयता की रक्षा कर सके हैं। अपने से कमजोरों को हमने अपने में पचा लिया। मज़बूतों से कुछ सीखा और तदनुरूप अपनी समाजिक व्यवस्था का निर्माण किया।

नैतिक आदर्श

हमारे सामने कुछ विशेष नैतिक मूल्य सदैव रहे हैं, धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी, विद्या, सत्य, अक्रोध आदि हमारे नैतिक आदर्श हैं। समाज में हमारे पारस्परिक सम्बन्धों के पीछे भी विश्व-बन्धुत्व की भावना है। हम अपने सम्बन्धियों एवं बाहरी लोगों के प्रति भी सदैव उदार

दृष्टिकोण रखते रहे हैं। जातिगत वर्ण-व्यवस्था हमारी स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं। यही कारण है हम इससे कभी भी पूर्णतया लिप्त नहीं हो सके। इन सभी कारणों से राजनीतिक दृष्टि से विभाजित होने पर भी भारतीय-प्रान्तों में एकत्व की भावना कभी नष्ट नहीं हो सकी।

राजनीतिक क्षेत्र में शत्रु के शरण में आने पर उसकी रक्षा, वचन पालन, राज-धर्म में विश्वास आदि कुछ हमारी विशेषताएँ रही हैं। कभी कभी इससे हमें धोखा भी हुआ, विशेषकर मध्यम युग में।

शिक्षा, कला आदि के पीछे भी हमारी दार्शनिक भावना प्रमुख है। साहित्य में भी हमारी यही समन्वयात्मक दृष्टि परिलक्षित होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारी संस्कृति के आधार सुदृढ़ हैं। जिस गौरवपूर्ण परम्परा को हमने प्राप्त किया है हम आज भी उसी का निर्वाह करने के लिए प्राण देने को तैयार हैं। एक बार हमने विश्व को बुद्ध के उपदेशों के रूप में ज्ञान का संदेश दिया था और वह दिन फिर दूर नहीं जब हम अपनी शक्ति का पूर्ण विकास कर विश्व को पुनः शान्ति का पथ दिखला सकेंगे। भगवान् हमारा पथ मंगलमय करे।

—२—

श्रीचन्द्रमौलि कुलश्रेष्ठ

आगरा कॉलेज

(रजत पदक प्राप्त)

जाह्नवी की निर्मल धारा की भाँति भारतीय संस्कृति भी निरन्तर अचल गति से प्रवाहित होती रही है—न जाने कितनी शताब्दियों की प्रतिक्रिया इसके प्रवाह को अवरुद्ध करने में पूर्णतः विफल हुई है। यह जीवन प्रवाह धूमिल अतीत को अपनी शक्तिदायिनी प्रभविष्णुता से सिञ्चित करता हुआ आज भी भारतीयों के मन एवं मस्तिष्क को अनुप्राणित कर रहा है।

काल के क्रम में न जाने कितनी संस्कृतियों ने बैबीलोन, मिश्र, ईरान आदि कितने ही देशों में गौरवपूर्ण उज्जवल संस्कृतियों का उदय एवं उत्कर्ष हुआ परन्तु समय के प्रबल झकोरों ने उन संस्कृतियों के हरे-भरे वृक्षों को समूल नष्ट कर दिया। आज वहाँ के ध्वंसावशेष ही उनकी अतीत महत्ता की गाथा गाने को रह गये हैं। आज हमारे लिए वे संस्कृतियाँ केवल एक स्वर्णिम स्वप्नमात्र रह गई हैं। इसके विपरीत भारतीय संस्कृति का वह द्रुम जिसे आर्य मनीषियों ने स्थापित किया था क्रमशः वर्द्धित ही होता गया; उसके कुसुमों के पराग से समस्त आर्यावर्त्त सुरभित हो उठा; उसके सुस्वादु फलों का आस्वादन कर सम्पूर्ण संसार तृप्त एवं आश्चर्यान्वित हो गया। भीषण आँधी का वेग इस वृक्ष को हिला न सका; सौदामिनी का कोप उसका बाल भी बाँका न कर सका। शताब्दियों के सङ्घर्ष को सह कर यह पादप आज भी वैसा ही दृढ़ वर्तमान है—शीतल हरा भरा मलयपवन के साथ झूमता हुआ। आ जभी हमारी संस्कृति की उच्चतम भावनाएँ हमारे हृदय को शान्ति तथा एक जीवन दायिनी प्रेरणा देती हैं।

हमारी संस्कृति मृत्युंजय है

भारतीय संस्कृति का इतिहास जाति के जीवन में होने वाले विभिन्न संघर्षों एवं अन्तर्द्वन्द्वों के प्रस्फुटन का, जीवन स्रोत की सहस्रमुखी धाराओं के विकास का इतिहास मात्र है। जाति के जीवन में जब एक नवीन जाग्रति का आविर्भाव होता है, संस्कृति की जब एक बाढ़ आती है, तब उसकी प्रतिभा अनेक प्रस्फुटित उच्छ्वासों के रूप में अभिव्यक्ति का मार्ग खोजती है। हमारी संस्कृति वास्तव में इस सहस्रमुखी प्रतिभा का क्रमिक विकास है। अनादि काल से भारतीय संस्कृति की अपनी ही विशेष ध्वनि रही है—वह है मृत्युञ्जयता। विश्व की किसी भी संस्कृति ने इतने उत्थान-पतन, इतने ज्वर-भाटे नहीं अनुभव किए जितने अपनी संस्कृति ने। निरन्तर आक्रमणों के कारण उसका अङ्गप्रत्यङ्ग रुधिराक्त हो गया परन्तु फिर भी उसने विदेशी शक्तियों के समक्ष आत्म-समर्पण नहीं किया, उसका गौरवोन्नत मस्तक नत नहीं हुआ। हूण, शक, ग्रीक, तातार, मुगल आदि और यूरोपीय कुछ समय के लिये अपनी विजय-पताका फहराते हुये चले गये परन्तु वे इस सनातन संस्कृति पर अपना आधिपत्य स्थापित न कर सके।

प्रश्न उठता है कि इस अमरतत्त्व का स्रोत कहाँ है? यह जीवन दायिनी शक्ति, यह स्फूर्ति दायिनी प्रेरणा कहाँ से आती है?

धर्म-तत्व जिज्ञासा

भारतीयों के जीवन में सदैव से प्रबल तत्व-जिज्ञासा रही है; अतः हमारी संस्कृति की सर्वप्रधान विशेषता उसमें धार्मिक भावों की प्रचुरता है। हमारे यहाँ धर्म का ऐसा स्वरूप निर्धारित किया गया है जो वर्तमान ही नहीं अपितु जीवन के भूत, वर्तमान एवं भविष्य तीनों पक्षों को स्पर्श करता है। धर्म में धारण करने की शक्ति है[1], उससे अभ्युदय एवं निःश्रेयस्[2] दोनों की प्राप्ति होती है, अतः केवल अध्यात्म पक्ष में ही

---

१. धारणाद्धर्मः २. 'यस्याभ्युदयनिःश्रेयस्सिद्धिः स एव धर्मः'—काणादसूत्र

नहीं, लौकिक आचारों-विचारों एवं राजनीति तक में उसका नियंत्रण स्वीकार किया गया है। मनुष्य के वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन को ध्यान में रखते हुए अनेक सामान्य तथा विशेष धर्मों का निरूपण किया गया है। वेदों के एकेश्वरवाद, उपनिषदों के ब्रह्मवाद तथा पुराणों के अवतारवाद और बहुदेववाद की प्रतिष्ठा जनसमाज में हुई और तदनुसार हमारा धार्मिक दृष्टिकोण भी अधिकाधिक विस्तृत एवं व्यापक होता गया है। हमारे धर्म का इतना महत्व है कि मनु ने केवल उसी को मानव का चिर-सखा अभिहित किया है।

वस्तुतः भारतीय संस्कृति का मुख्य लक्ष्य मानव को उसके पाशविक रूप से उन्नत करना है। परलोक चिन्तन हमारे जीवन का प्रधान अङ्ग हो गया है। हमारा दृष्टिकोण पश्चिम की भाँति केवल भौतिक नहीं है। हमारी विचारधारा भोग-विलासों की मृगमरीचिका में ही सुख की अनुभूति करने वालों से अत्यन्त उच्च स्तर की है। भारतीय शरीर में नहीं प्रत्युत आत्मा में आनन्द की अनुभूति करता है। हम कर्मवाद, पुनर्जन्म आदि सिद्धान्तों में विश्वास करते आए हैं। उपनिषदों में भी अन्नमय, प्राणमय प्रभृति कोषों की अपेक्षा मनोमय कोष की प्रभुता स्वीकार की गई है। भारतीय मनीषियों ने ज्ञान एवं अनुभव के आधार पर ही एक विशिष्ट दर्शन को जन्म दिया।[1] परन्तु हमारे यहाँ ज्ञान पक्ष के साथ ही उसके उपयोगी साधन पक्ष की ओर भी सङ्केत है। ज्ञान के अतिरिक्त सहज बुद्धि अथवा अन्तः करण (Intuition) की भी महत्ता स्वीकार की गई है। यद्यपि हमारे यहाँ बहुदेववाद का प्रचलन है तथापि उन सब के अन्तराल में स्थित परमात्मा की ही हम उपासना करते हैं। वैदिक संस्कृति के स्वर्णिम उषःकाल में हमें भ्रम हुआ 'हम किस देवता की यज्ञ के द्वारा पूजा करें ?[2] नासदीय सूक्त से हमारा सन्तोष नहीं हुआ। उत्तरकाल में

---

१. सर्व पल्ली राधाकृष्णन् (The heart of Hinduism)

२. "हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥"

हमारी शङ्का का समाधान किया गया—'जो शक्ति समस्त स्थावर-जङ्गम कृति में विद्यमान है, उसी देवता का हम आह्वान करते हैं'।[1] इस प्रकार हमने वाह्य प्रकृति एवं परब्रह्म में एकात्म्य स्थापित किया है।[2] हमारा ध्येय उस चिरन्तन सत्य की, उस ज्योतिपुञ्ज की जिसकी आभा से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड आलोकित हो रहा है[3], खोज है। इसी परब्रह्म के हमने अनेक स्वरूप निर्धारित किए हैं।[4] प्रकृति एवं पुरुष तो उसकी वीणा के दो तार हैं जिनको झङ्कृत कर वह 'कविर्मनीषीः परिभूः स्वयम्भुः' लोक जीवन की रागिनी ध्वनित करता है। किसी भी देवता को दी गई आहुति अन्त में उसी के पास पहुँचती है।

उदारता एवं सहिष्णुता

तथापि हमारी धर्म परम्परा में विचार का पूर्ण स्वातन्त्र्य है। हमारी उदारता एवं सहिष्णुता लोकविख्यात है। भारतीय संस्कृति में धर्म-युद्धों, अथवा "स्मिथफील्ड" में प्रोटेस्टेण्टों का जीवित जलाया जाना जैसी भीषण, क्रूर घटनाओं के लिए स्थान नहीं है। ईसाई मिशनरियों की भाँति हम यह नहीं मानते कि ईसा के अनुयायियों के अतिरिक्त शेष सभी धर्मावलम्बी अन्धकार में है और उन्हें प्रकाश में लाने का कार्य ईसा मसीह के ही अनुयायी करेंगे। भारत में तो 'विभिन्न मत एक स्वतन्त्र एवं क्रियात्मक संस्कृति के निर्माण में तत्पर परस्पर प्रभावित विभिन्न प्रयोग समझे जाते हैं। वे सभी एक महान् एवं स्थिर जीवन के विकास में संग्लन हैं, एक ही पथ के अनेक पथिक हैं।'[5] धार्मिक सहिष्णुता एवं समन्वयवाद की उदार भावना हमें तुलसी में व्यक्त हुई मिलती है। उन्होंने वैष्णवों एव शैवों के पारस्परिक झगड़ों को अत्यन्त सुन्दरता एवं कलात्मकता के साथ शान्त करने की चेष्टा की है।

---

१. यो देवोऽग्नौ योऽप्सु यो विश्वभुवनमाविवेश।
   योऽपधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः॥
२. 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'—छान्दोग्योपनिषद् (३।१४।१.)
३. 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।'
४. 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।' (ऋक्-संहिता—१।१६।४।४६)
5. S. Radhekrishnan: East and West in Religion.

समन्वय की महत्ता

वस्तुतः भारतीय संस्कृति की मूल विशेषता तो उसका समन्वय ही है। भारतीय तत्त्ववेत्ताओं ने जीवन के पारमार्थिक एवं व्यावहारिक दोनों ही पक्षों की पूर्ण निदर्शना की है। धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष के योग से ही कल्याण-प्राप्ति की सम्भावना की गई है। जीवन तो एक समष्टि है। शरीर और आत्मा दोनों के संयुक्त समूह का ही नाम जीवन है। पश्चिम ने जीवन के शरीर तत्त्व की ही ओर दृष्टि पात किया तथा आत्म तत्व की अवहेलना की। अतः उसका जीवन विकास एकाङ्गी है। परन्तु भारतीय संस्कृति में शरीर एवं आत्मा का, भौतिक वाद एवं अध्यात्मवाद का समन्वय दृष्टिगत होता है। हमारे यहाँ जीवन के आध्यात्मिक पक्ष को प्रधानता दी गई है परन्तु शरीर की अवहेलना नहीं की गई है। यदि ब्रह्मचर्याश्रम में कठोर संयम का निर्देश है तो गृहस्थाश्रम में भोगविलासों का भी। वासना का उन्मूलन नहीं अपितु संयमन किया गया है। यह कालिदास के रघुवंशियों के प्रति श्लोक से स्पष्ट हो जाता है।[1] हमारे जीवन में दर्शन की शुष्कता सर्वत्र नहीं आई है। स्वरूप में भले ही हम जगत को दुःखमय एवं मिथ्या मानें[2] परन्तु हम निराशावादी कदापि नहीं कहे जा सकते। अन्त हमारा आशावाद में ही होता है क्योंकि हम आत्मा को सच्चिदानन्दस्वरूप मानते हैं। यही कारण है कि हमारे साहित्य में ग्रीकों की भाँति दुःखान्त नाटकों का अभाव है। बौद्धों के निर्वाण को छोड़कर जीवन से पलायन (escape) की भावना हममें नहीं है। ईशोपनिषद में आत्मघात की कठोर निन्दा की गई है।[3] पाश्चात्य

---

१. 'शैशवेऽभ्यस्त विधानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्द्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥'

२. 'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या'—शङ्कराचार्य

३. "असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥"

दृष्टिकोण[1] के विपरीत हमारे जीवन में सदैव आशामय मङ्गल प्रभात की ज्योतिर्मयी रश्मियाँ अपनी आभा प्रस्फुटित किया करती हैं।

समन्वय की यही भावना श्री कृष्ण द्वारा कथित स्थितप्रज्ञ के लक्षणों[2] में दृष्टिगोचर होती है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि जो व्यक्ति इस संसार से उद्विग्न होता है वह मुझे प्रिय नहीं है।[3] शक्ति, शील, एवं सौन्दर्य तीनों ही विभूतियों से युक्त आदर्श पुरुष की हमने कल्पना की है। केवल कर्म, केवल ज्ञान अथवा केवल उपासना के आधार पर हम नहीं चलते हैं। हमारा धर्म कोई निश्चित सिद्धान्तमात्र (Dogma) नहीं है, वह केवल आत्म—साक्षात्कार में सहायक होता है। अतः हम अन्य जातियों को भी अपने मत में दीक्षित करने को प्रस्तुत रहते हैं। भारत में शक, सिथियन आदि आक्रमणकारियों ने हमारी इस समन्वय की भावना से उत्साहित हो भारतीय मत अपना लिए तथा ग्रीक राजदूत हेलियोडोरस ने तो बेसनगर में गरुडस्तम्भ भी बनवाया।

सदाचार

भारतीय संस्कृति में सदाचार का भी उच्च स्थान है। सामाजिक हित की दृष्टि से कतिपय निश्चित नियम निर्धारित किए गए हैं जिनका पालन करना अनिवार्य है। मनुष्य को धर्म के दस लक्षणों[4] का पालन कर सच्चरित्र

---

1. "It must be admitted that among Europeans themselves there is a wide spread pessimism with regard to the bases of their own civilization"—J. H. Nicholson
२. 'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगत स्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥' (गीता।२।५६।)
३. 'यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः'—गीता।१२।१५
४. 'धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।
धीर्विधा सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥" (मनुस्मृति)

बनना चाहिए; दुराचारी व्यक्ति का सर्वथा नाश ही होता है ।[1] यही नहीं समाज में मर्यादा का पालन भी आवश्यक है । पिता-पुत्र, भाई-भाई, पति-पत्नी के पारस्परिक सम्बन्ध की रक्षा रामायण में की गई है । मर्यादा की भावना सर्वत्र दर्शनीय है । लक्ष्मण सीता के मुख की ओर भी देखने की धृष्टता नहीं कर सकते ।[2] सीता के लिए राम के अतिरिक्त कोई सहारा नहीं है[3]—आदि पूत भावनाएँ रामायण में सन्निहित हैं । शास्त्रों में कर्तव्य का प्राधान्य है, अधिकार की चर्चा नहीं है । लोकरञ्जनकारी मर्यादित एवं अत्यन्त पवित्र जीवन का आदर्श उपस्थित किया गया है । पूर्ण पुरुष के गुणों के निर्देश में जीवन की सर्वाङ्गीणता का ध्यान रखा गया है ।

भारतीय संस्कृति की एक और मुख्य विशेषता यहाँ का वर्णाश्रमविभाजन है । भारतीय समाज को आर्थिक दृष्टि से चार भागों में विभाजित कर दिया गया है[4] तथा प्रत्येक वर्ण के दूसरे के प्रति कर्तव्यों का निर्देश कर दिया गया है । जाति-बन्धन कोई कठोर संस्था नहीं है, कर्म से शूद्र भी ब्राह्मण हो सकता है[5] । इसका विकास तो उत्तर काल में हुआ जब ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि अपने को सवर्ण समझने और शूद्रों पर अत्याचार करने लगे । कबीर आदि सुधारकों ने भी वर्ण व्यवस्था के विरुद्ध नहीं वरन् वर्णों की अव्यवस्था के विरुद्ध आन्दोलन किया । इसी प्रकार चारों आश्रमों, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास में सम्बन्ध है । शास्त्रों के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने निर्धारित कर्तव्य के समुचित पालन के द्वारा ही कल्याण को प्राप्त हो सकता है ।[6] यद्यपि पश्चिम का चश्मा चढ़ाए हुए सुधारक भारतीय वर्णाश्रम

---

१. "दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः ।" (मनुस्मृति)

२. "नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले ।
नूपुरेवाभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात् ॥"

३. "इह प्रेत्य च नारीणां पतिरेको गतिस्सदा ।"

४. 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः' (गीता ।४।१३)

५. 'चाण्डालमपि वृत्तस्थं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ।'

६. 'श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥' (गीता ।३।३५)

व्यवस्था को असभ्य एवं मूर्खतापूर्ण बताते हैं तथापि गहराई में जाने पर इसकी महत्ता स्पष्ट हो जाती है। यही कारण है कि मॉनियर विलियम्स जैसे यूरोपीय विद्वानों ने भी इस व्यवस्था के गुणों को स्वीकार किया है। इतिहासकार स्मिथ के शब्दों में ऐसी व्यवस्था जो सहस्रों वर्षों से चली आ रही है तथा हिमालय से कन्याकुमारी तक फैली है सर्वथा गुणरहित नहीं हो सकती।

वर्णाश्रम-व्यवस्था के अतिरिक्त गौ एवं ब्राह्मण की रक्षा को यथेष्ट महत्त्व दिया जाता है। ब्राह्मण तो भूसुर माने ही जाते हैं साथ ही गौ अथवा ब्राह्मण की हत्या भयङ्कर पातक मानी गई है। पाप की भीषणता की तुलना भी गोवध के पाप से की जाती है।[1] ज्ञान तथा ज्ञानियों के प्रति सम्मान की भावना सर्वत्र रही है। आते हुए ब्रह्मचारी को देखकर राजा को भी मार्ग छोड़ना पड़ता था। इसी प्रकार विद्या ग्रहण में हमने गुरु की महत्ता स्वीकार की है तथा उसे ईश्वर का ही रूप माना है[2]—सन्तों ने तो उसे ईश्वर से भी अधिक आदर दिया है[3]।

नारी का आदर्श

किन्तु इनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण विषय भारतीय समाज में स्त्रियों का स्थान है। भारतीय नारी का आदर्श हेलेन का आदर्श नहीं है। वह भोग्या नारी के रूप में हमारे सन्मुख नहीं आती, उसका आदर्श सीता का आदर्श है—वह जननी के रूप में हमारे समक्ष आती है—उसका बाह्य सौन्दर्य तो उसकी दिव्य आत्मा का प्रतिबिम्ब-मात्र है। हमने नारी का आदर करना सीखा है। जहाँ नारियों की पूजा होती है वहाँ देवता प्रसन्न होते हैं।[4] इसके

---

१. 'होइ पाप गोघात समाना' (तुलसीदास)

२. 'गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात्परब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः॥'

३. 'गुरु गोविन्द दोनों खड़े काके लागूँ पाँय।
बलिहारी गुरु आपकी जिन गोविन्द दिया मिलाय॥' (कबीर)

४. 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।'

विपरीत ग्रीस में स्त्री की सामाजिक स्थिति अत्यन्त निम्न कोटि की थी।[1] जहाँ भारत में गार्गी, मैत्रेयी प्रभृति विदुषियों ने अपनी उर्वरा मेधा एवं कुशाग्र प्रतिभा से ऋषि मण्डली को चकित कर दिया था वहाँ बाईबिल में स्त्री को मुँह बन्द रखने ही की आज्ञा दी गई है।[2] स्वयं ईसा मसीह अपनी माता का समुचित आदर नहीं करते थे। विलसन के शब्दों में भारतवर्ष में ही स्त्रियों का सबसे अधिक आदर होता था। अन्य किसी भी देश में उनकी इतनी प्रतिष्ठा नहीं थी।[3]

विवाह हमारे यहाँ एक पवित्र बन्धन माना गया है ठेका नहीं। स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध को मधुर एवं दृढ़ बनाने के लिए दोनों के बीच में पारस्परिक स्नेह एवं सहानुभूति की अपेक्षा की गई है। सदाचार के नियमों का पालन करते हुए गार्हस्थ-धर्म के पूर्ण पालन में ही दोनों का कल्याण है। शकुन्तला के पतिगृहगमन के समय कण्व ने उसे जो उपदेश दिया है उस एक श्लोक में ही नारीधर्म की समुचित विवेचना हो जाती है।[4] तैत्तिरेय ब्राह्मण

---

1. "In general the position of the virtuous great women was a very low one. She was under a perpetual tutelage" (Lecky: History of European Morals)
2. "Let the woman learn in silence with all subjection. I suffer not a woman to teach, nor to usurp authority over the man, but to be in silence."—Bible.
3. "In no nation of antiquity were women held in so much esteem."—H. H. Wilson.

४. "शुश्रूषस्व गुरून्कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः॥"

(अभिज्ञानशाकुन्तलम् ।४।१)

में तो लिखा है कि पत्नी के बिना कोई यज्ञानुष्ठान हो ही नहीं सकता। जर्मन विचारक नीत्शे का कथन सत्य है कि मनुस्मृति के अतिरिक्त किसी भी अन्य पुस्तक में स्त्रियों के प्रति इतने कोमल एवं शुभ उद्गार नहीं हैं।[1]

राजनीति

राजनीति के क्षेत्र में भी भारतीयों का सदैव से राज्यशक्ति एवं सम्राट् की सत्ता में विश्वास रहा है। सम्राट् को ईश्वर का अंश माना जाता था। उसकी आज्ञा के विरुद्ध आचरण घोर दण्डनीय समझा जाता रहा है। परन्तु भारत में स्वेच्छाचारी शासकों का अभाव ही दृष्टिगत् होता है। सम्राट् को राज्यारोहण के पूर्व प्रजापालन की शपथ लेनी पड़ती थी इसी कारण प्रजा भी उसे पिता की भाँति मानती थी। सभा समितियों के मतों की भी अवहेलना नहीं की जाती थी। दशरथ ने राम के राज्याभिषेक से पूर्व सभासदों की अनुमति लेना कर्तव्य समझा था। इस प्रकार हमारी संस्कृति के इस क्षेत्र में मर्यादावाद के दर्शन होते हैं। राजा शक्तिशाली होता था परन्तु वह अपनी शक्ति का उपयोग अत्याचार में नहीं प्रत्युत लोकरञ्जन में करता था।

भारतीय साहित्य

भारतीय संस्कृति की समस्त मूल भावनाएँ भारतीय साहित्य में दर्पण की भाँति प्रतिबिम्बित होती हैं। आनन्द की भावना, सौन्दर्य-विवृति

---

1. "I know of no other book in which so many delicate and kindly things are said of the women as in the law-book of Manu; these old grayheads and saints have a manner of being gallant to woman which perheps cannot be surpassed". (Nietzche : Anti—Christ).

(Aesthetic Sense) तथा कोमल अनुभूति के सम्मिश्रण से मानव हृदय की गम्भीरतम मनोवृत्तियों की अभिव्यक्ति हुई है। साहित्य के शिव रूप[1] की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। स्वयं 'साहित्य' शब्द 'सहित'[2] से निकला है जिसमें कल्याण की भावना निहित है। इसी कारण हमारे यहाँ दुःखान्त नाटकों का अभाव है। समस्त भारतीय साहित्य धार्मिक ज्योति से अनुप्रेरित हो रहा है। यही भारतीय कला के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है। भारतीय स्थापत्य में धार्मिक स्वरूप स्पष्टतया लक्षित होता है।[3] भारतीय कला अधिकांशतः केवल देवी देवताओं के चित्रण तक ही सीमित है।

भारतीय साहित्य की दूसरी विशेषता रमणीक प्रकृति-वर्णन है। यद्यपि भारतीय रसवेत्ताओं ने प्रकृति के रम्य रूपों को उद्दीपन मात्र माना है तथापि भारत की शस्यश्यामला भूमि की निसर्गसिद्ध सुषमासे कवियों का चिरकाल अनुराग रहा है। भारतीय कवियों का हृदय प्रकृति की सुन्दरतम विभूतियों में अधिक रमता है अतः उन्होंने प्रकृति के जैसे मनोहारी, सजीव मार्मिक एवं संश्लिष्ट चित्र अंकित किए हैं वैसे अन्य देशीय कवि नहीं कर पाए हैं। भारत में तो सरलता का साम्राज्य रहा है। भारतीय मानव प्रकृति के उपादानों से ही

---

१. 'प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः॥' (रघुवंश)

२. 'यदिदं मेऽनुरूपार्थं मया साधु सुमन्त्रितम्।
भवन्तो मेऽनुमन्यन्तां कथं वा करवाण्यहम्॥' (वाल्मीकि रामायण)

३. "कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कर हित होई॥"
(तुलसी: रामचरितमानस)

४. 'सहितस्य भावः साहित्यम्।'

3. "Indian art, in fact, is the window through which men may gaze upon reality". (C. E. M. Joad : Story of Indian Civilization.)

स्नेह करता तथा उन्हें आत्मीय मानता रहा है। उदाहरणतः शकुन्तला की विदाई के समय कण्व उसके 'वनवास बन्धुभिः' तरुओं से विदा की अनुमति लेते हैं। उस समय कितना हृदयग्राही एवं मार्मिक चित्र आँखों के सम्मुख नाचने लगता है।

विभिन्नता में एकता

भारतीय संस्कृति की उपर्युक्त विशेषताओं के मूल में एक अन्तर्मुखी धारा प्रवाहित होती दृष्टिगत होती है—विभिन्नता में एकता (Unity in divesity) इसी गुण के कारण हमारी जाति का अन्य जातियों से पृथक्करण किया जा सकता है तथा उसी गुण के कारण हमारी जातियों में नूतन जीवन का सञ्चार हुआ है। इस २००० मील लम्बे तथा इतने ही चौड़े राष्ट्र में न जाने कितने मत रीतिरिवाज वेषभूषा भाषाएँ आदि हैं। किन्तु इन समस्त विभिन्नताओं को भारतवर्ष की मौलिक एकता के सूत्र ने आवद्ध कर रखा है। सुदूर अतीत से ही इस मौलिक एकता की पुष्टि की गई है। जगद् गुरु शङ्कराचार्य ने भारत के चारों कोनों पर मठों की स्थापना कर देश को एक सम्बन्ध-सूत्र से बाँध दिया। आज भी भारतीय संस्कृति का उपासक स्नान के समय देश के विभिन्न प्रदेशों की नदियों में पुण्य जल की कल्पना करता है।[1] इस प्रकार भारतीय संस्कृति अपने समन्वयवाद के कारण समस्त विभिन्नताओं में भी एकता उत्पन्न कर देती है।

भारतीय संस्कृति भारतीय आत्मा के दिव्य स्वरूप का स्फुरण है। अनेक झंझावातों एवं आक्रमणों का सामना कर आज भी भारतीय संस्कृति का सूर्य गगन में तिमिर का निवारण कर रहा है। समन्वयवाद उसका मूल सिद्धान्त है; सदाचार उसका अमर सन्देश है। भारतीय संस्कृति सिखाती है कि किस प्रकार सच्चरित्रता से जीवन को समुन्नत किया जा सकता है, इहलोक एवं

---

१. "गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु ॥"

परलोक दोनों को सुधारा जा सकता है।[1] यह वही संस्कृति है जिससे अभिभूत हो क्रोज़र कह उठा था—यदि पृथ्वी भर में कोई ऐसा देश है जो सत्य का गौरव रखता हो तो वह मानव जाति का आदि स्थान, प्रथम सुधार और सभ्यता का उद्गम निःसंशय भारतवर्ष ही है।

हमारी संस्कृति सदैव से सार्वभौमिक भावनाओं से परिवेष्टित रही है। जगत् का, प्राणिमात्र का कल्याण हमारा ध्येय रहा है। चण्डीदास की भाँति महाभारत के शान्ति पर्व में भी मानवता को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। हमारी संस्कृति की सबसे अधिक प्रशंसनीय विशेषता यही विश्वात्मभाव है जिसका परिणाम है विश्वमैत्री, विश्वकरुणा और विश्वमुदिता। भला इससे अधिक समुज्ज्वल, उच्चतम एवं कल्याणभावनापूर्ण संस्कृति कौन सी होगी जिसमें ऐसे महान् उद्गार हों—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥

1. "By following the right way of life man can, as we have seen, overcome the barriers that obscure and impede the workings of the spirit, and realize his true nature, which is also his spiritual nature".

——C. E. M. Joad : Story of Indian Civilization

श्री कौशल किशोर, एम० एस-सी०,
प्रयाग विश्वविद्यालय
(रजत पदक प्राप्त)

प्रत्येक व्यक्ति का जीवन के प्रति एक अपना दृष्टिकोण होता है। विभिन्न व्यक्तियों के दृष्टिकोण निरीक्षण करने पर हम पायेंगे कि उनमें अनेक विभिन्नताओं के होते हुए भी कुछ समान विशेषतायें रहती हैं जिनके आधार पर हम उन व्यक्तियों के समाज की विचारधारा निर्धारित कर सकते हैं। जीवन को विभिन्न समस्याओं के विषय में विचार करने की किसी राष्ट्र की जो पद्धति होती है, जो दृष्टिकोण होता है, जो विचारधारा होती है, वह उस राष्ट्र की संस्कृति कहलाती है।

राष्ट्र और संस्कृति

संस्कृति और राष्ट्रीयता ऐसे विषय हैं कि जिनकी नपी-तुली परिभाषा देना उतना ही कठिन है जितना सरल इनके भावों से परिचित होना। संस्कृति राष्ट्र की आत्मा होती है, जो राष्ट्र जीवन की पद्धति, प्रणाली एवं प्रवृत्ति में स्पष्ट देख पड़ती है। शरीर में आत्मा का जो स्थान है वही राष्ट्र में संस्कृति का है। राष्ट्र संस्कृति के बिना मृत हो जाता है। राष्ट्र को राष्ट्र कहने के लिये उसकी संस्कृति का होना परमावश्यक है।

अपने राष्ट्र की दार्शनिक पृष्ठभूमि पर आधारित संस्कृति उस समाज के इतिहास, रहन-सहन, रीति-रिवाज, भाषा आदि पर निर्भर करती है। किसी समाज की सभ्यता से हम संस्कृति का भी अनुमान लगा सकते हैं, पर हैं ये दो भिन्न वस्तु। एक भावनात्मक है तो दूसरी क्रियात्मक। संस्कृति के आकार

धारण कर प्रत्यक्ष होने पर हम उसे सभ्यता के नाम से पुकारते हैं। सभ्यता हमारे व्यवहार से सम्बंधित है और संस्कृति विचारों एवं भावनाओं से। यह सत्य है कि सभ्यता सर्वदा संस्कृति के अनुरूप ही होती है पर सभ्यता में जो नित्यप्रति वैज्ञानिक प्रगति के कारण परिवर्त्तन होता रहता है उससे यह समझ लेना कि संस्कृति में भी परिवर्त्तन हो रहा है एक महान् भूल होगी, कारण कि ऐसे परिवर्त्तन में सभ्यता का रूप भले ही बदल जाय, उसकी पृष्ठभूमि नहीं बदलती, उसकी प्रकृति नहीं बदलती—यह सभ्यता से कहीं अधिक स्थायी होती है।

संस्कृति चेतन है

इसका यह तात्पर्य नहीं कि कभी संस्कृति में परिवर्तन होता ही नहीं। संस्कृति अवश्य ही जड़ नहीं है, चेतन है, जीवनमयी है। विचारों की प्रगति के साथ संस्कृति में भी सुधार सम्भव हैं पर ये किसी संस्कृति की विशेषताओं की तुलना में नगण्य होते हैं और ये विशेषतायें कभी बदलती नहीं, कभी नष्ट नहीं होती। इन्हीं के द्वारा हम एक संस्कृति को दूसरी से अलग करके रखते हैं, इन्हीं के द्वारा हम किसी संस्कृति के प्रभाव को किसी भी स्थान पर देखकर तुरन्त पहचान लेते हैं।

कला और संस्कृति

संस्कृतियों का मिश्रण नहीं होता; मिश्रण होता है सभ्यताओं का। चित्रकला, मूर्त्तिकला, गानविद्या, स्थापत्यकला आदि कलायें एवं विभिन्न सभ्यतायें अपने से भिन्न संस्कृतियों के प्रभावक्षेत्र में आकर प्रभावित होती हैं, उनमें न्यूनाधिक अन्तर देख पड़ता है, पर इससे यह न समझ लेना चाहिये कि ऐसे कलाकारों को कोई मिश्रित संस्कृति मान्य थी। संस्कृति व्यक्ति की विचार पद्धति को नहीं कहते—यह तो राष्ट्र की वस्तु है। प्रश्न उठता है, क्या सम्पूर्ण राष्ट्र का दृष्टिकोण भी इन कलाओं के प्रति बदल सकता है? क्या ये कलायें संस्कृति की प्रतीक हैं?

संभवतः।।किन्तु कला क्या है? कला हमारी सभ्यता का एक अंग है जिस पर संस्कृति और सुरुचिभावना (aesthetic sense) का प्रभाव

स्पष्ट अंकित रहता है। वास्तव में यह सुरुचि भावना संस्कृति से अलग नहीं है; संस्कृति का प्रमुख भाग उसका दर्शन होता है और इसके पश्चात् सुरुचि-भावना का महत्व होता है। अतएव हम देखते हैं कि प्रत्येक राष्ट्र का दर्शन बहुत कुछ अपरिवर्तनशील होने के कारण जहाँ विभिन्न संस्कृतियों का मिश्रण प्रायः असम्भव होता है वहाँ सुरुचिभावना अधिक प्रभावित हो सकने के कारण समय के साथ संस्कृति का प्रादुर्भाव संभव हो सका है। सुरुचि भावना संस्कृति को नमनशील अवश्य बनाती है किन्तु इसे किसी भी संस्कृति की विशेषताओं में स्थान नहीं मिल सकता, क्योंकि ये केवल भावनायें ही हैं, अस्थिर और हृदयगत भावों पर आश्रित। समय समय पर उत्पन्न हुए विचारकों की देन जो हमारा दर्शन है वह कहीं अधिक स्थायी वस्तु है, उसी की विशेषताओं पर संस्कृति का वैशिष्ट्य आधारित है।

मुख्य अन्तर—पाश्चात्य भौतिकवाद

उक्त भूमिका को ध्यान में रखते हुए यदि हम विभिन्न संस्कृतियों की तुलना करें तो अपनी संस्कृति की विशेषताओं को स्पष्ट देख पायेंगे। भारतीय संस्कृति की मुख्य विशेषताओं को लक्ष्य करने पर अन्य पाश्चात्य संस्कृतियों से जो प्रधान अन्तर समझ में आता है, वह है भारतीय संस्कृति का अध्यात्मवादी होना जब कि पाश्चात्य संस्कृतियाँ भौतिकवादी हैं। यह अंतर दोनों संस्कृतियों की प्रकृति में है जिसके कारण दोनों ही एक दूसरे से बहुत दूर जा पड़ी हैं। यदि कभी ऊपरी समन्वय दिखाई भी पड़े तो हम नहीं कह सकते कि यह कितने दिन चल पायेगा। जहाँ प्रारम्भिक सिद्धान्तों में ही मतभेद है वहाँ समन्वय कैसा?

पाश्चात्य देशों में सामाजिक नियम, रीति रिवाज, रहन सहन, साहित्य, कला, इतिहास, धर्म यहाँ तक कि जीवनभर में भौतिकवादी प्रवृति का आधिपत्य देख पड़ता है। हम छोटे से कुछ उदाहरण लें, नमस्कार करने की प्रथा में ही एक दूसरे को देखकर जो प्रसन्नता होती है उसे व्यक्त करने के लिये विविध अंगस्पर्श द्वारा अभिवादन की विधि प्रचलित है। अंगस्पर्श द्वारा प्राप्त सुख ही इसका आधार है। अब हम इसके भारतीय रूप पर

दृष्टिपात करें, नमस्कार शब्द का अर्थ ही झुकना है और क्रिया में भी हम झुककर प्रणाम करते हैं, अपने को झुका कर हम नमस्कृत व्यक्ति के गुणों का सन्मान करते हैं। इसमें भौतिक सुख नहीं वरन् दोनों को आत्मिक संतोष मिलता है।

कर्त्तव्य या अधिकार ?

कुछ देशों में कोई भी उपकार होने पर उपकृत व्यक्ति अपने को अनुगृहीत मानता है और धन्यवाद देता है। उपकार भी नहीं, भाई-बहिन, पिता-पुत्र आदि भी स्वाभाविक कर्त्तव्यों के अन्त में एक दूसरे को धन्यवाद देते हैं। यह है पाश्चात्य संस्कृति की नस-नस में समाई हुई अधिकार भावना की चरम सीमा। जैसे वहाँ कर्त्तव्य भावना का तो लोप ही हो गया है। भारतीय संस्कृति में कर्त्तव्य भावना के जो आदर्श हैं वे और कहाँ मिलेंगे? भामाशाह का अपनी असंख्य संपत्ति राष्ट्र-हित के लिए महाराणा प्रताप को दे डालना सर्व विदित है। उसने यह कार्य कर्त्तव्य-भावना से ही किया था—आदर्श कर्त्तव्य-भावना से! जिस प्रकार हम सत्य के लिए हरिश्चन्द्र का नाम लेते हैं कर्त्तव्य पालन के लिये भामाशाह का नाम ले सकते हैं। महाराणा विजय प्राप्ति के बाद भामाशाह को दरबार में विशेष रूप से सम्मानित करना चाहते थे। पर भामाशाह इसे सहन न कर सका। वह अपने स्वाभाविक कर्त्तव्य का इनाम न सह सका, उसने टीले से कूद कर आत्महत्या करली। मैं कैसे राज-दरबार में जाकर अपने कार्य का पारितोषिक लूँगा, इनाम लेने के बाद कैसे मेरी आँखें उठ सकेंगी, ये उस पुण्यात्मा के विचार थे जो इनाम लेने को गर्हित कार्य समझता था! आज भी ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो कर्त्तव्य पालन के पश्चात् उस कार्य की चर्चा भी होने देना नहीं चाहते। पर कुछ विचारक पाश्चात्य संस्कृति में रँगे हुए कहते हैं कि प्रगति के लिये प्रोत्साहन चाहिये, बिना इनाम दिये जोश कैसे मिलेगा, उन्हें कोई भी बड़ा काम कर लेने पर तुरन्त इनाम चाहिये। यह विदेशी ही नहीं हमारे सिद्धान्तों के प्रतिकूल हमारी प्रकृति की विरोधी भावनायें हैं। यह प्रवृत्ति धीरे-धीरे हमें हमारी कर्त्तव्य भावना से दूर लेजा रही है, हमारी संस्कृति से दूर लेजा रही है।

हमारी संस्कृति इतनी विशिष्ट, अन्य संस्कृतियों से इतनी भिन्न क्यों है ? हम थोड़ी देर भारतीय सुख और आनन्द की कल्पना पर विचार करें। संसार में हम दो प्रकार के नितान्त भिन्न सुख मानते हैं। ऐहिक और आध्यात्मिक। हमारी ज्ञानेन्द्रियों और बाह्य जगत की वस्तुओं के संयोग से हमें ऐहिक सुख प्राप्त होता है। इस सुख की यह विशेषता है कि साधन उपलब्ध होने पर तृष्णा शीघ्र ही शान्त हो जाती है। किन्तु जो सुख हमको प्राप्त होता है वह बहुत ही क्षणिक होता है।

प्रारम्भ की एक सफलता से हम आगे की सफलता या असफलता की कुछ गंध पा जाते हैं। पाश्चात्य देश की संस्कृति में बहुत से प्रवर्त्तक कहते हैं कि हम भौतिकवाद का अन्तिम आदर्श पा लेने के बाद अध्यात्मवाद की ओर स्वयं ही अग्रसर होंगे। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या हम ऐसी संतोष की सीमा कभी प्राप्त कर सकेंगे ? जब कि हम देखते हैं कि ऐहिक सुख की तृष्णा सदा बढ़ती है तो इस बात पर विश्वास करना सम्भव नहीं रहता।

भारतीय संस्कृति में आध्यात्मिक सुख को ही महत्व प्राप्त है। वह आनन्द जो हमको किसी भौतिक उपभोग में नहीं प्राप्त होता। 'रोटी और कपड़ा प्रचुर मात्रा में मिल जाना ही आनन्द है और आनन्द की चरम सीमा इन्हीं वस्तुओं की अधिकाई और सुन्दरता में छिपी रहती है' परन्तु इस सुख के बाद क्या है यह उन संस्कृतियों में महत्व नहीं रखता। हमारी संस्कृति की विशेषता यही है कि हमारे समाज की नीति और व्यवस्था का आधार वह सुख है जो ज्ञान विद्या और बुद्धि में समाया हुआ है, जो स्थिर है, जो भौतिक पदार्थों के शरीर से संयोग से प्राप्त नहीं हो सकता।

निष्काम कर्म

हमारी संस्कृति कर्त्तव्य प्रधान है। कर्त्तव्य करते जाना और फल के विषय में निश्चिंत रहना चाहिये। इसी कारण हमारी संस्कृति में साधनों का बहुत महत्व है। बहुधा क्या होता है कि ध्येय बहुत सुंदर और आकर्षक होने के कारण हम सदा उस फल की चिंता में लगे रहते हैं। वास्तव में साधन यदि सम्यक हों तो ध्येय को भुला देने पर भी हम उस फल को प्राप्त कर सकते हैं।

ध्येय सोच लेने के बाद उसमें अपनी आत्मा को पूर्णतया विलीन कर देना आवश्यक है किन्तु फिर भी फल या ध्येय से विरक्ति रखकर कर्म करते रहना चाहिये। इस तरह संन्यास का महत्व सांसारिक बन्धनों की तृष्णा से बचाने में है।

निष्काम कर्म का सब से बड़ा लाभ यह है कि हमें अधिकतर कार्य में सफलता मिलती है। हम ऐसे बहुत से उदाहरण दे सकते हैं जो कभी भी फल की चिंता से विमुख न होते हुए भी अपने कार्य में सफल हुए और भौतिकवादी संस्कृति में फल को अधिक महत्व है भी, किन्तु उसमें मनुष्यत्व के निम्न गुणों और प्रवृत्तियों का प्रदर्शन होता है। भौतिकवादी संस्कृति के अनुसार यदि हम कभी असफल हुए तो कहते हैं *O ! The world is devil's world,* हम अपने अन्दर बुराई नहीं देख पाते। यदि *devil's world* है तो हम भी *devil* होंगे जो फल सामने आते हैं उनके साधन हम स्वयं हैं यह निष्काम-भाव की शिक्षा है। इस कारण जब तक हम अपने को पूर्ण नहीं कर लेते तब तक फल झूठे हो सकते हैं। अपनी संस्कृति के अनुसार हमें अपने को पूर्ण बनाना है, तभी संसार की अन्य वस्तुऐं पवित्र एवं पूर्ण दीख सकेंगी।

आस्तिकता, आशावाद, आदर्शवाद

हम ईश्वर को मानते हैं, आस्तिकता हमारी संस्कृति की विशेषता है। अनेकानेक मत-संप्रदाय हमारे देश में रहे पर सभी ने ईश्वर को माना है। बिना किसी धर्मान्धता के (चार्वाकमत आदि भी यहाँ रहे हैं) भारत के निवासियों की प्रवृति एक सर्वोपरि परमेश्वर मानने की ओर रही है। किसी ने देवताओं के रूप में, किसी ने देवी के रूप में, किसी ने सगुण रूप विभिन्न अवतारों को, किसी ने निर्गुण ब्रह्म को माना, पर ईश्वर को सभी मानते रहे हैं। हमारी संस्कृति की यह विशेषता है, वह आस्तिक, आशावादी एवं आदर्शवादी रही है। जब हम देखते हैं कि आदर्शवाद जैसे उपयोगी गुण की स्थिति आस्तिकता पर ही निर्भर है तथा आशावाद ईश्वरवाद पर ही आश्रित है, तो हमें आस्तिकता का महत्व जान पड़ता है।

जो समाज अनीश्वरवादी हैं उनका आशास्थल कोई नहीं रहता। यदि जीवन व्यर्थ बिता दिया तो निराशा से छूटना उनके लिये असंभव हो जाता

है। पर ईश्वर मानने वाला अपने ईश्वर की शक्ति में विश्वास रखता हुआ उससे सहायता की आशा करता है, वह जानता है कि ईश्वर की सहायता से वह सभी संकटों को पार कर सकेगा। इस भावना से जो आत्मिक बल प्राप्त होता है वह वास्तव में हमारी संस्कृति की ही देन है। हमारे समाज को आदर्शवाद बहुत प्रिय है। यह कहना कि कल्पनालोक का विचरणमात्र करने से कोई कार्य सिद्ध नहीं होता, अनुचित ही होगा, क्योंकि प्रगति के लिये एक ध्येय-बिंदु जिस पर सारे प्रयत्न केन्द्रित किये जा सकें, आवश्यक होता है। आदर्श पूर्णता का प्रतीक होता है। बिना ईश्वर पर विश्वास रखे हम आदर्श की कल्पना ही नहीं कर सकते। आदर्श व्यक्ति को नहीं माना जा सकता, व्यक्ति तो अपूर्णता का परिचायक है, आदर्श के लिये हम ईश्वर को ही ले सकते हैं, जो अपने विभिन्न संस्कृत नामों के द्वारा वास्तव में विभिन्न गुणों के आदर्शों का स्वरूप ही माना गया है। आशा और आदर्श का उद्गम आस्तिकता हमारी संस्कृति में एक विशेष स्थान रखती है।

त्याग

भारतीय संस्कृति में त्याग को विशेष महत्व प्राप्त है। हम सदा ही उन साधु पुरुषों का सम्मान करते आए हैं जिन्होंने अपना सर्वस्व त्यागकर अपने को दूसरों के हितसाधन में लगाया है। जीव की प्रारम्भिक प्रवृत्ति स्वार्थ है। मनुष्य सबसे पहले अपने स्वार्थ की बात सोचता है। पर ज्यों-ज्यों वह ज्ञान के पथ पर बढ़ता है, मानव धर्म का अनुभव करता है, वह स्वार्थ की अपेक्षा परार्थ को अधिक महत्व देने लगता है। यहीं से त्याग भावना का उदय होता है। हमारी संस्कृति में पले हुए लोगों ने तो जैसे त्याग को जीवन का एक अंग बना लिया था। न्यूनतम साधन लेकर ऋषि लोग जीवन यापन करते थे। अत्यंत सादगी से रहने के कारण ही वे लोग विभिन्न भोगों के प्रति मोह का त्याग करने की सामर्थ्य उत्पन्न कर पाते थे।

राजा जनक, भरत, दधीचि ऋषि आदि त्याग के आदर्श रहे हैं। दधीचि ने तो समाज के हित में वज्र-रचना के लिये अपनी हड्डियाँ तक दे

डाली थीं। हर्षवर्धन प्रत्येक मकर-संक्रान्ति को अपना सारा धन दान दे डालता था। संन्यासियों के सामने जाने पर अब भी हमारा मस्तक आप से आप झुक जाता है। जीवन के सुख-ऐश्वर्य छोड़कर, नाते-रिश्ते छोड़कर, घर, पड़ोसी, मित्र, सबकुछ त्याग कर मनुष्य संन्यास लेता है, त्याग ही उसका जीवन बन जाता है। यह आदर हम उनके प्रतिभाशाली व्यक्तित्व को नहीं उस गेरुआ कपड़े को ही देते हैं जो त्याग का प्रतीक है और जिसे देखने पर श्रद्धा के भाव मन में स्वयमेव उत्पन्न हो आते हैं।

शुद्ध आचरण

चरित्र अथवा शुद्ध आचरण का प्रमुख स्थान होना भी हमारी संस्कृति की विशेषता है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि जहाँ अन्य देशों में विद्वान अथवा किसी कला में अति निपुण व्यक्ति चरित्रहीन भी रहे हों तो भी उनका आदर होता था, भारत में यदि किसी का आचरण गिर गया तो फिर वह कभी किसी प्रकार सन्मान नहीं पा सका। कारण केवल चरित्र का स्थान विभिन्न देशों में भिन्न-भिन्न होना है। अन्य देशों में कला-निपुणता संभवतया चरित्र से ऊपर की वस्तु मानी जाती थी, आचरण को तो वे निजी व्यवहार की बात मानते थे जिससे सामाजिक जीवन में कोई व्यवधान नहीं पड़ता। वे तो राष्ट्रीयता के साथ भी चरित्र आवश्यक नहीं समझते। वारेन हेस्टिंग्ज का छूट जाना इसका उदाहरण है। भारत में ऐसा नहीं रहा। यहाँ तो वैयक्तिक एवं सार्वजनिक जीवन एक ही रहा है। तभी तो उच्च, परोपकारमय सामाजिक जीवन बिना शुद्ध आचरण के चल ही नहीं सकता। हम अपने नेताओं से सदा यह अपेक्षा करते रहे हैं कि वे बहुत संयमी, शुद्ध चरित्र वाले व्यक्ति रहेंगे। कोई भी नेता चरित्र भ्रष्ट होने के बाद हमारे सन्मान का पात्र नहीं रहा। भारतीय जनता ने उन्हीं नेताओं को स्वीकार किया जिनका आचरण शुद्ध था। यही कारण है कि बहुत से खद्दरधारी समाज-सेवक अपने आचरण में विकार आने के कारण अपने प्रतिष्ठित स्थान से च्युत हो गए हैं।

सर्वांगीण विकास एवं व्यवसायात्मिका बुद्धि

भारतीय संस्कृति के वातावरण में रहने वाले व्यक्ति को अपने सर्वांगीण विकास का अवसर मिलता है, वह सारे गुणों का विकास कर सकता है यदि केवल हेतु (अभिप्राय) शुभ हो तो। आज के लोकतंत्र में हेतु का महत्व बहुत घटा दिया है। हमारे यहाँ हेतु पर आधारित होकर सभी गुण विकास पाते हैं।

हमारी संस्कृति के अनुसार भावना का महत्व कम है और बुद्धि प्रधान मानी गई है। मन बुद्धि से नीचे आता है। असीम ज्ञान और विद्या, यह हमारी संस्कृति की देन है। हमारी संस्कृति में व्यवसायात्मिका बुद्धि को प्रथम स्थान है, अर्थात् वह बुद्धि जिसमें भावना को लेश मात्र भी स्थान नहीं। वेद, स्मृति, सदाचार और आत्मा यह चार इस व्यवसायात्मिका बुद्धि की कसौटी हैं। वेद अर्थात् विवेक (reason), स्मृति अर्थात् नियम, आत्मा (inner self) और सदाचार स्पष्ट ही है। इन पर तौल कर साहसमय और निष्कपट भाव से अपने को पूर्ण बनावें। इस बुद्धि के द्वारा तर्क करके नियमबद्ध आचार से जो सुख मिलता है उसका प्रसार मन करता है। इसी कारण, व्याकरणात्मक मन हमारा आदर्श है। बुद्धि एवं मन के इस आदर्श का ही फल है कि हमारी संस्कृति के प्राप्त नियमों में हम कहीं भी धर्म में सीमित या बद्ध नहीं हैं। यह सबसे अधिक उदारधर्म है, यहाँ सभी को विचार-स्वातंत्र्य है, बुद्धिस्वातंत्र्य है, ज्ञान-स्वतंत्र्य है। और यह बुद्धि भी व्यवसायात्मक है, वासनात्मक नहीं।

विचार-स्वातंत्र्य

वासनात्मक बुद्धि के स्वातंत्र्य के दुष्परिणाम तो हम आज सारे संसार में देख सकते हैं। अनेक कुरीतियाँ, व्यभिचार, स्वार्थ आदि स्वातंत्र्य पाकर बढ़ ही रहे हैं और समाज को संत्रस्त कर रहे हैं। इसीलिये इस वासनात्मक बुद्धि का अनुचित स्वातंत्र्य न मान कर इसे व्यवसायात्मिका बुद्धि तक ही सीमित रखा है। उदाहरणों की हमारे इतिहास में कमी नहीं। हमारे अनेकानेक

ऋषि प्रणीत ग्रंथों में विभिन्नता ही नहीं विरोध भी पाया जाता है। कभी कभी तो लोग कह देते हैं कि तुम्हारा कोई निश्चित धर्म नहीं, कोई एक संस्कृति नहीं, स्थिर सिद्धान्त नहीं, पर यह वाह्य विषमता ही तो हमारी संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता है जिसमें साथ ही साथ समता भी छिपी हुई है। यही तो सबको आश्रय देने वाले महान् उदार एवं सभी को आत्मसात कर लेने वाले मानवधर्म की विशेषता है। सारा समाज आस्तिक होने पर भी चार्वाक अपने प्रसिद्ध अनीश्वरवादी सिद्धांत चार्वाकमत का प्रतिपादन करता था, नित्य संध्या समय काशी नगरी में प्रत्यक्ष भाषण देता था और अपना दृष्टिकोण लोगों के सामने रखता था। वह स्वतंत्र था, इस सीमा तक पहुँचकर भी वह समाज का अंग बना रहा। वह समाज सहिष्णुता का व्यवहार जानता था न कि विरोधी सिद्धांतों को अन्यायपूर्वक दबा देना। ऐसी स्वतंत्रता हमें कहाँ मिल सकती है?

मानव संस्कृति

धर्म का निरूपण करनेवाले मनु ने सत्य, अहिंसा, अस्तेय (कोई भी अप्रामाणिक कार्य न करना), मनु वचन, कर्म से शुद्धि तथा इन्द्रिय-निग्रह-को ही अपने धर्म का आधार माना था। अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः। कैसे उच्च एवं सात्विक नियम हैं! कौन धर्म और समाज इन पर चलकर अपने को गौरवान्वित न समझेगा? और इस धर्म का नाम 'मानव धर्म' पड़ा—अर्थात् मनुष्य मात्र का धर्म! ये नैसर्गिक नियम मानो नैसर्गिक रूप से हमारे जीवन का आधार बन गए हैं। इन्हीं के कारण तो हमार संस्कृति मानव संस्कृति कहला सकती है। धर्म के नाम से हमें आशंकित होने का कारण नहीं, धर्म हमारे यहाँ बहुत विस्तृत रहा है, जीवन ही प्रायः धर्ममय रह है। अतएव धर्म और संस्कृति में विशेष अंतर नहीं, केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि धर्म कुछ अधिक क्रियात्मक रूप है जबकि संस्कृति एक भावमात्रहै।

वैषम्य में भी साम्य

हमारी संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता है वैषम्य में भी समता। यह समता मानवधर्म पर आधारित है। अभी हम विचार-स्वातंत्र्य का परिणाम

देख चुके हैं—समाज में अनेक प्रकार की विषमतायें उत्पन्न होना। और केवल विचार-स्वातंत्र्य ही नहीं, हमारे सामाजिक नियमों ने भी समाज में वैषम्य उपस्थित किया है, भले ही यह आवश्यक रहा हो। वर्ण-भेद, जाति-भेद, मत-मतान्तर-भेद, आश्रम-भेद, आदि कितने भेद हैं! कितने समुदाय बन गए हैं! कितनी विभिन्न प्रवृत्तियाँ समाज में देख पड़ती हैं। पर एक अंतर्व्यापी एकात्मता है जो आसेतु हिमाचल सारे समाज को एक सूत्र में बाँधे हुए है। जब जब इस बाह्य वैषम्य ने प्रबल होकर आन्तरिक साम्य को समाप्त करना चाहा तभी भाग्यवश अथवा समाज की जीवनी शक्ति के फलस्वरूप महात्मा पुरुषों ने जन्म लेकर देश में समरसता का, एकात्मता का विस्तार किया। सारे समाज को संघटित किया। महात्मा श्री कृष्ण ने भारतीय महा-युद्ध का योग्य अन्त करके भारत में एक साम्राज्य एवं एक संस्कृति की स्थापना की। स्वामी शंकराचार्य ने देश के चार कोणों पर चार मठ स्थापित कर देश के प्रत्येक भाग में घूम-घूम कर एकात्मता का प्रचार किया। स्वामी दयानन्द ने सारे ही जाति एवं मतान्तर भेदको मिटा डालने का बीड़ा उठाया और बहुत कुछ सफलता भी प्राप्त की! उनका चलाया हुआ आर्यसमाज आज भी एकीकरण की इस श्रेष्ठ ज्ञानमयी विधि का प्रयोग कर रहा है। फिर रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द और महात्मा गाँधी ने इसी मानवधर्म के आधार पर सारे देश को एक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया। उन्होंने समाज में स्वयं का साक्षात्कार कर लिया था।

परन्तु इन सारे भेदों के नीचे हमें एक सर्वतोव्याप्त समष्टि-भावना देख पड़ती है। व्यक्ति स्वतंत्र है और नहीं भी है। व्यक्ति समाज में लीन हो जाने के कारण, वह अलग होते हुए भी राष्ट्र का अंग होकर ही रहता है। हम गाँवों में अब भी देखते हैं कि भिन्न परिवार होने पर भी सारा गाँव एक वृहत् परिवार के सदृश रहता है। आपस में परिवार के सारे नाते-रिश्ते माने जाते हैं, एक का दुख-सुख अनेक का दुख-सुख हो जाता है। किसी के यहाँ विवाह हो तो सारा गाँव उसमें सहयोग देता है, सब मिल कर काम करते हैं, सब खुशी मनाते हैं। ऐसा लगता है मानों बारात व्यक्ति की नहीं गाँव की है;

लड़की भी गाँव की लड़की है न कि किसी विशेष परिवार की ! कोई दुर्घटना हो, मृत्यु हो, तोभी सारा गाँव उसके प्रतिकार का उपाय सोचता है अथवा शोक मनाता है। आज किसी गाँव में यदि ये प्रथायें न दिखाई पड़ें तो यह न समझ लेना चाहिये कि वहाँ की संस्कृति बदल गई अथवा नष्ट हो गई। जैसा कहा जा चुका है, संस्कृति राष्ट्र की आत्मा होती है, यह नष्ट नहीं होती निकल जा सकती है, भुलाई जा सकती है और प्रयत्न करने से पुनः प्रतिष्ठित भी हो सकती है। अज्ञान के कारण साधारण जन इन प्रथाओं को भूलते जा रहे हैं पर अभी उस समाज के अंग बचे हुए हैं जो अपनी भारतीय संस्कृति के पुनरुत्थान में लगे हुए हैं। अस्तु, हम सामाजिक जीवन में साम्य कुछ तो देख चुके हैं; अन्य भी उदाहरण हैं। वर्ण-व्यवस्था रहते हुए भी, प्रत्येक वर्ण आयु के अनुसार चार आश्रमों में जीवन व्यतीत करता है, इनमें से अन्तिम समय अर्थात् संन्यास आश्रम में जब कि व्यक्ति सबकुछ छोड़ देता है, वह वर्ण-भेद से भी परे हो जाता है। संन्यासी का हमारे समाज में कोई वर्ण नहीं, वह सबके लिये माननीय एवं पूज्य है। यह उदाहरण है हमारे विचारों में कट्टरता न होने का; आज तो संस्कृति विस्मरण के साथ गुण लुप्त हो गए हैं, निम्नवर्ण समस्या आदि दोष ही दिखाई देने लगे हैं। पर यह कभी भी न भूलना चाहिये कि यही हमारी वास्तविक संस्कृति नहीं है।

कृत्रिमसाम्य अस्थायी होता है

समाज में विभिन्न स्तर रहें तो रहें अनेक समुदाय रहें,पर अतिथि-सत्कार सभी प्रकार के लोगों को मान्य होगा, गुरु का आदर सभी करेंगे, सभी विद्यार्थी सादगी से आश्रम में रहेंगे और सब बराबर रहेंगे, यह थी हमारी संस्कृति की मनोवृत्ति। व्यापारी धनवान होकर लोकहित के कार्य करें, न्यायपूर्ण वृत्ति से धनोपार्जन करें, धर्मशाला, पाठशाला, आदि स्थापित करें, यह उनका धर्म रहा है। हमने आर्थिक समता के समान कृत्रिम साम्य की कभी चेष्टा नहीं की, कारण कि यह साम्य अस्थायी होता है। यह मनोबल पर नहीं वरन् पाशविक बल पर आधारित रहता है। यह साम्य के प्रसार का प्रयत्न जिसका तर्क केवल यही है कि साम्य फैले, क्या कभी चल सकेगा ? इसमें वह हृदय की

शाश्वत प्रेरणा कहाँ जो इस व्यवस्था को स्थिर रख पायेगी, यह तो दलित वर्ग का उत्थान है, एक तूफान है जो दब जायगा, अपने स्थान से विचलित वर्ग जो योग्य-स्तर की प्राप्ति के उत्साह में आवश्यकता से आगे निकल जाना चाहता है, जिसे अपने साधनों के औचित्य का भी ध्यान नहीं रहा।

हमने तो मनुष्य को मनुष्य के नाते प्रेम करना सीखा है, यही मानवीय धर्म है, यही हमारी संस्कृति की प्रेरणा है। हमारे महापुरुषों ने समाज में स्वयं का, ईश्वर का साक्षात्कार किया है, और यह समाज अपने देश का ही नहीं, अन्ततोगत्वा सारे संसार का समाज ही आत्मस्वरूप है, ऐसी भावना का हमने निर्माण किया है। वसुधैव कुटुम्बकम् का आदर्श रखने वाली यह हमारी संस्कृति है जिसके प्रधान अंग हैं *निष्काम कर्म, विचार-स्वातंत्र्य एवं वैषम्य में भी साम्य !*

ये प्रत्यक्ष विशेषतायें हैं जो अपने समाज के दृष्टिकोण को ही ऐसा विशिष्ट बना देती हैं कि वह किसी भी स्थान पर तुरन्त पहचान लिया जायगा, जिनके कारण हमारी संस्कृति मानव संस्कृति कहलाती है, जिनके कारण हमने अभीतक संसार में गौरव पाया है और भविष्य में भी हमारे देश का मस्तक उन्नत होना अवश्यम्भावी है।

—४—

सुश्री राजकुमारी भटनागर
रघुनाथ गर्ल्स कालेज, मेरठ
(विशेष पुरस्कार प्राप्त)

विश्व एक रहस्य है। ग्रन्थियों का समारोह है। मानव अपने बुद्धि कौशल से इन रहस्यमयी ग्रन्थियों को सुलझाना चाहता है। किन्तु यह रहस्य उस के लिए सदा रहस्य ही रहता है। उस के हृदय-सागर में आशा निराशा की जलधि लहरियाँ अँगड़ाई ले सोती जागती हैं। *वह चाहता है विश्व के साथ एकाकार होना। वह चाहता है प्रकृति में लीन होना। और मानवी समाज की इसी भावना से जन्म होता है संस्कृति का। जब प्राणी साहित्य, कला, शिक्षा आदि द्वारा नवीन मार्गों में अग्रसर होकर विश्व के रहस्य को खोलना चाहता है तभी संस्कृति का रूप बनता है।*

संस्कृति का इतिहास मानव इतिहास का रोचक व शिक्षाप्रद अंग ही नहीं,वरन् इतिवृत्त का दृढ़ सूत्र भी है। राज्य बनते बिगड़ते रहते हैं, सभ्यता के ऊपरी रूपों में परिवर्तन होता रहता है, किन्तु संस्कृति की अविच्छिन्न धारा प्राचीन काल से आज तक निर्बाध रूप से प्रवाहित होती चली आ रही है। बीच बीच में उस पर परदा पड़ता रहा है परन्तु दीपक बुझा नहीं, एक देश में उसका तिरोभाव हुआ तो दूसरे देश में पहले से अधिक ऊँचे स्तर पर उसका आविर्भाव हुआ।

'संस्कृति का विकास ज्यामिति की सरल रेखा नहीं है। जातियाँ गिरती हैं, परन्तु मनुष्य उठता है। जाति व देश पीछे हटते हैं, किन्तु मनुष्य सतत आगे बढ़ता है। यह है संस्कृति का अमर स्वरूप।'

संस्कृति क्या है ?

किन्तु यह स्वाभाविक, सरल विकासमयी संस्कृति है क्या ? इस का क्या स्वरूप है ? संस्कृति मानवीय व प्राकृतिक शक्तियों, जाति व वातावरण का परस्पर आदान-प्रदान है। यह जीवन के प्रति दृष्टिकोण है जो हमारा व्यक्तिगत या देशगत मूल्य, व अस्तित्व निर्धारित करता है। *संस्कृति मानव जीवन का प्रौढ़तम दृष्टिकोण है।*

'संस्कृति' शब्द का अर्थ है, परिमार्जन अथवा परिष्कार। मानव समाज की सामाजिक, धार्मिक, व आर्थिक स्थिति का परिष्कृत रूप ही संस्कृति कहलाता है। मानव एक सामाजिक प्राणी है और समाज ही में उसका अस्तित्व निहित है। सामूहिक उन्नति में ही व्यक्ति की उन्नति है। अतः समाज की आत्मा में व्यक्ति की आत्मा का एकीकरण ही उन्नति का मूल है। व्यक्ति का समष्टि में अन्तर्निहित होना ही सामाजिक उन्नति का मार्ग है। अन्त में यही कहेंगे कि संस्कृति है मानव स्वाभावोत्पन्न सामूहिक प्रवृति से उत्पन्न उन की सामाजिक, धार्मिक, व बौद्धिक स्थिति का व्यावहारिक स्वरूप। संस्कृति ही मानव समाज का प्रतिबिम्ब है। संस्कृति के मुख्य चार अंग हैं शिक्षा, कला, भाषा, व साहित्य, इन्हीं चार धाराओं से संस्कृति की अविच्छिन्न धारा प्रवाहित होती चली आई है। मानव समाज ने किस भाँति समय समय में इस दीपक को अपने सतत प्रयत्न से प्रज्वलित रखा, यही संस्कृति का इतिहास है। समाज का विकास ही संस्कृति का इतिहास है।

विश्व संस्कृति भारतीय संस्कृति की आधार शिला पर ही स्थित है। युग युग प्राचीन यह हमारी संस्कृति आज भी विश्व में गौरवपूर्ण उच्च भाल लिए खड़ी है। जगत के अन्य जाति व देश जब अज्ञान के अन्ध कूप में पड़े जङ्गली जीवन यापन कर रहे थे, उस समय भारत में हमारे प्राचीन संस्कृति निर्माता हमारे पूर्वजों का ज्ञान, विश्व के अनोखे रहस्यागार में से अनमोल मोती खोज खोज कर 'संस्कृति' का मुकुट सजा रहा था। इतनी प्राचीन व आदिम अवस्था में ही उन्होंने जिस संस्कृति का निर्माण किया वह सदा के लिए अन्य देश व जातियों का मार्ग प्रदर्शक बनी रही।

समन्वयवाद

हमारी भारतीय संस्कृति का मूल है समन्वयवाद। क्या साहित्यिक, क्या धार्मिक सभी क्षेत्रों में तथा कला में इसी समन्वयवाद की प्रधानता है। हमारे दर्शन आत्मा, परमात्मा की एकाकारिता द्वारा अलौकिक आनन्द प्राप्ति का रहस्य स्पष्ट कर देते हैं। धार्मिक क्षेत्र में ज्ञान, भक्ति, कर्म का समन्वय है। सामाजिक क्षेत्र में वर्ण व आश्रम द्वारा उचित समन्वय किया गया है।

मानव अपने वातावरण से अवश्य प्रभावित होता है। प्राकृतिक वातावरण व जलवायु मनुष्य का एक विशेष प्रकार से विकास करते हैं। भारतीय संस्कृति पर भी यहाँ की भौगोलिक परिस्थिति का विशेष प्रभाव पड़ा है। दक्षिण भारत की कथाकाली नृत्य, अजन्ता के भित्तिचित्र, उत्तरी भारत का कला-कौशल, सङ्गीत, वास्तु कला, विद्या, व सिन्धु घाटी की सभ्यता इसी का प्रमाण है।

मिश्रित संस्कृति

केवल भौगोलिक परिस्थितियों ने ही संस्कृति के विकास में योग दिया हो, यह नहीं प्रत्युत भारत में समय समय पर विदेशी जातियों ने आकर अपनी भिन्न सभ्यता व संस्कृति से प्रभावित कर भारतीय संस्कृति को एक नवीन सांचे में ढाला है। भारत विभिन्न जातियों का निवास स्थान है। यहाँ न जाने कितनी विदेशी जातियाँ आईं, और इसी कारण भारतीय संस्कृति का रूप भी सदा विकसित होता रहा है। इनकी अपनी विशेष सभ्यता व संस्कृति थी, जिसके परस्पर आदान-प्रदान द्वारा इन्होंने एक नवीन संस्कृति को जन्म दिया जो इन सब का मिश्रण थी। प्रत्येक संस्कृति ने अपना निजी अस्तित्व रख कर भी भारतीय संस्कृति की मूल स्थित एकता को स्वीकार किया। यद्यपि बाह्य रूप रंग व आवरण समय समय पर परिवर्तित होता रहा किन्तु उनके मध्य में भारतीय संस्कृति की सर्वग्राहिणी शक्ति व एकता की मूल धारा प्रवाहित थी। इस संस्कृति ने इन

विदेशी जातियों को पूर्णतया आत्मसात कर लिया, जिससे वह भी इसी का एक अंग बन गई।

भारतीय इतिहास का अध्ययन हमें बताता है कि हमारी संस्कृति समय समय पर परिवर्तित होती रही, नवीन परिधान धारण करती रही, विभिन्न संस्कृतियों को एकता के सूत्र में सम्बन्धित करती रही, तथा आगे बढ़ने की प्रेरणा देती रही। उसकी आत्मा नष्ट न हो सकी।

परिवर्तन युग

भारत आज परिवर्तन के क्रीड़ में है। भारत ही क्या समस्त संसार ही करवटें बदल रहा है। ऐसे समय में संस्कृति का रूप भी परिवर्तित हो रहा है व हो भी चुका है, किन्तु अन्तर्गत एकता अब भी मिलेगी। हमारी भारतीय संस्कृति प्राचीन आर्य संस्कृति के आधार पर खड़ी है। आर्य संस्कृति की मुख्य प्रवृत्तियां इसमें अब भी पाई जाती हैं।

आधुनिक भारतीय संस्कृति में भौतिकवाद का प्रभाव अपनी जड़ें जमा रहा है। भारतीय समाज की कुप्रथाओं को दूर करने का प्रयास किया जा रहा है। सामाजिक जीवन में क्रान्ति मच गई है। साम्यवाद के सिद्धान्तों के प्रचार द्वारा समाज में एकता व समानता स्थापित करने का प्रयत्न आधुनिक संस्कृति की देन है। वर्षों से दासता की बेड़ी में जकड़ी भारतीय जाति अब जाग कर दुर्गा स्वरूपिणी हो अपने अधिकारों के प्रति सचेत हो चुकी है। अछूत अब समाज का कोढ़ नहीं वरन उसका मुख्य अंग हैं। आज समाज में प्राचीन अन्धविश्वास व अन्धपरम्राओं की शृंखलायें टूटने को आतुर हैं। राष्ट्रीयता देशानुराग व स्वातंत्र्य के इस युग में भारतीय संस्कृति परिवर्तित हो चुकी है।

एकता

भारतीय संस्कृति की मुख्य विशेषता है एकता। एकता का यह दृढ़ सूत्र भूत, वर्तमान व भविष्य को संगठित किए हुए है। समय समय पर आने वाली जातियाँ, उनकी भाषा, रीतिरिवाज, रहनसहन इत्यादि सब इस प्रकार

आत्मसात कर लिए कि उनका विदेशीपन नष्ट हो गया। वे भूल गए कि वे अन्य हैं, विदेशी हैं, वरन् उनके हृदय में भी देशप्रेम की पुनीत सारिणी प्रवाहित होने लगी। भाषा, रहन-सहन, रीति व शारीरिक भिन्नता होते हुए भी भारतीयता की जो डोरी उन सबों को नाथे हुए है, वह हमारी संस्कृति की मुख्य विशेषता है। परमात्मा के विभिन्न अंश स्वरूप आत्माएं उस परोक्ष सत्ता से एकता के सूत्र में सम्बन्धित है, उसी भाँति वाह्यावरण की विभिन्नता उनकी आन्तरिक एकता को नष्ट नहीं कर सकी है।

विश्व बन्धुत्व

हमारी संस्कृति की कुछ अन्य विशेषताएँ इसकी लोक संग्रह की भावना, धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष द्वारा निःश्रेयस की प्राप्ति, समाज में व्यक्ति का उच्च स्थान होते हुए भी समष्टि की व्यष्टि से अधिक मुख्यता, त्याग की भावना, तथा मानव मात्र का कल्याण है। इन्हीं प्रवृत्तियों के कारण हमारी संस्कृति स्थिर रह सकी। *मानवता का कल्याण ही हमारा मुख्य उद्देश्य है, विश्व बन्धुत्व ही हमारा लक्ष्य है। "विश्व मानवता का जय घोष यहीं पर पड़े जलद स्वर मन्द" उसी में हमारी मानवता है।* भारत विश्व में शान्ति का प्रचार करेगा; अशान्ति, अत्याचार, घृणा को नष्ट कर सारा संसार एक ही राष्ट्र में परिवर्सित हो जाए, एकता, प्रेम, सहयोग, बन्धुत्व की भावना उस स्वर्ण संसार में राज्य करे, यही भारत का विश्व को सन्देश है।

स्फुट-विचार

संस्कृति की रूपरेखा

श्री दिनकर सोनवलकर—

व्यक्ति के समान ही राष्ट्र की भी एक निश्चित जीवन धारा होती है। जिस प्रकार असंख्य पूर्वजों से प्राप्त अतीत के संस्कारों को लेकर मनुष्य चलता है, उसी प्रकार अनादि काल से चली आई हुई संस्कृति राष्ट्र के साथ सदैव संबद्ध रहती है।

श्री शरत चन्द्र मिश्र—

राष्ट्र और संस्कृति का सम्बन्ध अविच्छिन्न है। राष्ट्र की मर्यादा उसकी संस्कृति में निहित रहती है। युग-युग की साधना व तपश्चर्या से समाज जिस बौद्धिक विकास की चरम सीमा तक पहुँचता है उसी का निचोड़ संस्कृति है। संस्कृति उस राष्ट्र के उत्थान-पतन, विकास, उत्कर्ष, जीवनधारा से परिपूर्ण रहती है, इसलिये वह आगामी संतति का सदैव पथ-प्रदर्शन करती है। जिस प्रकार एक वृक्ष चारों ओर अपनी दूर-दूर तक फैली हुई जड़ों से रस प्राप्त कर अपनी प्रत्येक डाली व पत्तों में नवीन स्फूर्ति, जीवन संचार करता है, उसी प्रकार यह राष्ट्र-वृक्ष भी अपनी अतीत की संस्कृति रूपी जड़ों से अनुप्राणित होकर राष्ट्र के अंग-अंग को जीवन-रस प्रदान करता है और उसके भावी-जीवन को प्रशस्त करता है।

श्री देवी चन्द—

संस्कृति का तात्पर्य उस परम्परागत-विधान-शृङ्खला से है जिसके द्वार मानव की प्रकृति-प्रदत्त शक्तियाँ सुधरी हुई स्थिति में लाई जाती हैं और

उनका यथोचित सम्बन्ध दृश्य जगत के अन्य पदार्थों और तत्वों के साथ स्थिर किया जाता है।

संस्कृति वास्तव में मूल-प्रवृत्तियों की सामाजिक और सांसारिक प्रयोग-विधि निर्धारित करती है। हमारी प्रवृत्तियाँ और हमारे विकार हमारे व्यवहारों में मुखरित होते हैं। व्यवहारों का उच्च बनाना ही संस्कृति का उद्देश्य है। दूसरे शब्दों में प्रकृति-प्रदत्त शक्तियों का समुचित विकास संस्कृति का लक्ष्य होता है।

प्रत्येक संस्कृति जीवन-सम्बन्धी दर्शन रखती है, जीवन का उद्देश्य निश्चित करती है और उसके साधनों पर विचार करती है। विभिन्न भूखण्ड के निवासी जीवन में व्यवहृत करने के लिये अपनी प्राकृतिक स्थिति तथा रुचि के अनुरूप विधान का निर्माण करते हैं। ये विधान जब तक सूक्ष्मरूप में रहते हैं तब तक दर्शन कहे जाते हैं और जब व्यवहार में आ जाते हैं तब धर्म हो जाते हैं, तथा परम्परागत हो जाने पर संस्कृति हो जाते हैं। संक्षेप में, व्यक्ति के जीवन को सुव्यवस्थित, पारिवारिक और सामाजिक स्वरूप देना ही संस्कृति का ध्येय है।

सामयिक या तात्कालिक विधान, भले ही वह हमारी इन शक्तियों के विकास में सहायक हो, संस्कृति की परिधि में नहीं आता; यही विधान जब समाज-विशेष के द्वारा अपना लिया जाता है और परम्परागत हो जाता है तब संस्कृति का रूप धारण करता है। क्योंकि संस्कृति हमारे प्रत्येक व्यवहार को निश्चित गति और दिशा देती रहती है। किसी नवल विधि में तभी यह शक्ति आ सकती है जब वह समाज के जीवन में व्याप्त होकर परम्परागत हो जाय।

इस संस्कृति द्वारा विकास में बाधक रूढ़ियों को पोषण नहीं मिलता। नये विचार—जो समाज की गति के साथ अपनाये जाते हैं—सभ्यता की कोटि में आते हैं और यही सभ्यता परम्परागत होने पर संस्कृति हो जाती है, वैसे ही जैसे आज की राजनीति भविष्य का इतिहास होती है।

श्री मोतीलाल जायसवाल—

प्रकृति के तत्वों पर विजय पाने के प्रयत्न में तथा मानवानुभूति की कल्पना में मनुष्य जिस जीवनदृष्टि की रचना करता है वह उसकी संस्कृति है। संस्कृति कभी गतिहीन नहीं होती अपितु वह निरंतर गतिशील है। तदपि उसका अपना निश्चित अस्तित्व है। नदी के प्रवाह की भाँति निरंतर गतिशील होते हुए भी वह अपनी निजी विशेषतायें रखती है। ये उस सांस्कृतिक दृष्टिकोण को उत्पन्न करनेवाले समाज के संस्कारों में तथा उस सांस्कृतिक भावना से जन्य राष्ट्र के साहित्य, कला, दर्शन, स्मृतिशास्त्र, समाजरचना, इतिहास, एवं सभ्यता के विभिन्न अंगों में व्यक्त होती हैं।

ठाकुर यदुवंश नारायण सिंह—

संस्कृति मानव की शाश्वत भावना से उत्पन्न होती है तथा उसका उद्देश्य आन्तरिक और वाह्य स्थितियों में सामञ्जस्य पैदा करना होता है। इस आंतरिक और वाह्य प्रयोग में मनुष्य की सभ्यता का योग अवश्य पाया जाता है। परन्तु इन दोनों तत्वों के दो विभिन्न आशय हैं। सभ्यता का प्रत्यक्ष सम्बन्ध मनुष्य की पार्थिव उन्नति से है तथा संस्कृति का सम्बन्ध है आत्मा और हृदय से। इस प्रकार संस्कृति मनुष्य की रचनात्मक वृत्तियों का सर्वश्रेष्ठ परिणाम है जिसकी अभिव्यक्ति कई प्रणालियों जैसे भाषा, कविता, धर्म, दर्शन तथा आर्थिक और राजनीतिक संगठनात्मक शक्तियों द्वारा होती है।

दर्शन, ज्ञान और विचारराशि के परे संस्कृति जीवन की उन मान्यताओं और धारणाओं का प्रतीक है जिससे जीवन को सतत सर्वतोमुखी विचार-प्रेरणा प्राप्त हो, जिससे कि उसकी वास्तविकता नष्ट न हो वरन् स्वतन्त्र चिंतन के रूप में नैतिक क्षेत्रों में पूर्ण रूप से प्रकट हो। वह भाव और कर्म (ज्ञान और विचार) का समन्वय है। भाव उसकी मूलभूत प्रेरणा अथवा प्राण है तो कर्म उसका मूर्त रूप अथवा शरीर।

सुश्री उर्मिला रस्तोगी—

पाण्डित्य का भण्डार, कला का ज्ञान तथा मनुष्यों व पुस्तकों से परिचय 'संस्कृति' बनाते हैं, ऐसा मैं नहीं समझती, किन्तु संस्कृति जिससे बनती है वह वह वृत्ति है जो इन सब के मिल जाने से उत्पन्न होती है।

संस्कृति के, जिसका मानव जीवन के विकास और मानसिक उत्कर्ष से सम्बन्ध है, तीन अंग हैं—उसका दर्शन और विज्ञान, उसका धर्म और कला, तथा उसका कर्मकाण्ड। इस प्रकार संस्कृति में ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनों का समन्वय है।

श्री उत्तम नारायण भटेले—

संस्कृति काल के स्तरों पर बहती हुई धारा है। मानव सम्पर्क से, संस्कृतियों के अन्तरावलम्बन से उसमें विकृति भी आती है, और कभी कभी बाहरी तत्व भी उसमें घुल-मिल जाते हैं। किसी नदी की धारा में भी ये बातें होती हैं, किन्तु इससे उसका गुण-रूप नहीं बदलता, इसी प्रकार भारतीय संस्कृति भी सभी विकारों को अपने में उदरस्थ करती हुई अपनी सनातन प्रवृत्ति नहीं छोड़ती, यह उसकी प्रकृति है।

संकलित—

संस्कृति के विभिन्न अंगों में सामञ्जस्य होना आवश्यक है। प्रायः ऐसा होता भी है। यही कारण है कि एक विशेष दार्शनिक पृष्ठ भूमि पर आधारित संस्कृति का कोई एक अंग स्वतन्त्ररूप से अन्य संस्कृति द्वारा प्रभावित नहीं हो सकता, यहाँ तक कि संस्कृति इसी कारण प्रायः अपरिवर्तनशील होती है।

हमारा वैशिष्ट्य

श्री मोती लाल जायसवाल—

भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषता यह है कि यह मानव स्वभाव के अनुकूल है, जिसके कारण अब तक इस संस्कृति को अन्यों पर अपना प्रभाव दिखाने के लिये कभी भी बल-प्रयोग करना नहीं पड़ा है, जबकि अन्य संस्कृतियों का आधार ही घृणा, संघर्ष, क्रान्ति आदि होती है। अपनी संस्कृति निःस्वार्थ सेवा सिखाती है। यह उसका भव्योदात्त तत्व है। जहाँ निःस्वार्थता नहीं वहाँ सेवा नहीं है। वह व्यापार है। उस पर हमारी संस्कृति का विश्वास नहीं है।

श्री अमर नाथ अग्रवाल—

हमारी संस्कृति ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों की सिद्धि को मानव-जीवन का ध्येय माना है, इनमें भी प्रधानता हमने धर्म और मोक्ष को ही दी है। अर्थ और काम का उपभोग, उनकी प्राप्ति का प्रयास वहीं तक उचित ठहराया हैं जहाँ तक वह हमें धर्म और मोक्ष की प्राप्ति में सहायता करता है। हम तो यह कहते हैं—'कोवा दरिद्रोहि बिशाल तृष्णा बद्धोहि कोयो विषयानुरागी।' इसीलिये जहाँ अर्थ और काम को लक्ष्य माननेवाली सभी संस्कृतियों ने मानव के जीवन में विषमता और अशांति उत्पन्न की है, हमारी संस्कृति ने विषमताओं का अन्त करके, जीवन की समस्त समस्याओं का हल निकाल कर शांति और सुव्यवस्था का पथ दिखाया है।

श्री हरिशंकर चूड़ामणि—

समाज के लिये अपने अस्तित्व को विलीन कर दो और तुम देखोगे कि समाज तुम्हें ऊँची दृष्टि से देखता है। हाँ, अन्दर ऐसी कोई भी [illegible] न

छिपी हो कि यदि इन्द्रासन तक पहुँच जाऊँ तो इन्द्र को नीचे ढकेल दूँ। यदि ऐसा होगा तो प्रथम तो वह पद पाना ही दूभर हो जायगा और पा भी गए तो वहाँ रह नहीं सकोगे।

श्री पुरुषोत्तम प्रसाद सिंह चौधरी -

हमारी संस्कृति का निर्माण दिव्यदृष्टि संपन्न रागद्वेष शून्य एवं त्रिकाल-दर्शी ऋषियों द्वारा अध्यात्म के आधार पर हुआ है—जिसके चार प्रधान आधार-स्तंभ हैं—ईश्वर, ऋषि, नियम और शास्त्र। हमारी संस्कृति इन्हीं चार पर अवलम्बित है और यही उसकी विशेषता है।

श्री हरी शंकर बढौनिया—

हमारी समन्वय की भावना इतनी प्रबल थी कि हमने उन शक्तियों को भी जो हम पर आक्रमण करने आयी थीं, अनुप्राणित किया; अपनी संस्कृति में उनकी संस्कृति का इतना सुन्दर समन्वय किया कि आक्रमणकारियों की निज की संस्कृति क्या थी इसका आज पता ही नहीं चलता। हमारी संस्कृति ने सबको आत्मसात कर लिया। किन्तु घोर धर्मान्धता का, हिंसा का, उत्पीडन का हमारी संस्कृति से कोई मेल नहीं हो सकता था। अतएव मुसलिम आक्रमणकारी अपने को पृथक ही अनुभव करते रहे। हमने उनका विरोध किया। यह भी सत्य है कि युद्ध में हम पराजित हुए, *किन्तु हमारी सांस्कृतिक धारा कुंठित नहीं हुई। सहस्राधिक वर्ष हम पराधीन रहे, हमारी कर्मण्य शक्ति का ह्रास हुआ, किन्तु हमारी संस्कृति के मूल में अवस्थित विशेषताये अगोचर रूप से ज्यों की त्यों बनी रहीं। हमने महा विनाश के गह्वर में गिरकर भी मानसिक सतुलन नहीं खोया। जीवित जाति की भांति हम पुनः नव जागृति, नवस्फूर्ति के साथ अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होने को सन्नद्ध हैं।*

श्री दिनकर सोनवलकर—

भारतीय संस्कृति की सब से बड़ी विशेषता है—अन्य परम्पराओं को आत्मसात करने की प्रवृत्ति और शक्ति। न जाने कितनी संस्कृतियाँ इसके

गर्भ में छिपी बैठी हैं। मानों उन सभी संस्कृतियों का 'भारतीयकरण' हो गया है। हमारी संस्कृति तो गंगा नदी की पवित्र निर्मल धारा के समान है जिसमें मिलकर गंदे नाले का पानी भी गंगामय हो जाता है। भारतीय संस्कृति में अन्य किसी संस्कृति की तनिक भी गंध नहीं। उसने तो सभी को आत्मसात् करके 'अपना' बना लिया है। इसी गुण के कारण आज भी भारतीय संस्कृति पुरातन होते हुए भी चिरनवीन है।

श्री पी० सत्य नारायण—

उत्तर भारत के कई स्थानों पर ताज आदि अनेक शिल्प मौजूद हैं। वे सब अभारतीय मुसलमानों की कला से सर्वथा भिन्न हैं तथा वे हिन्दू, बौद्ध तथा मुस्लिम शिल्पों की सम्मिलित कलानिपुणता के निदर्शन हैं।

सामाजिक व्यवहारों में भी यह अंतर कुछ दिखाई देता है। दक्षिण भारत के लोगों में जो आचार हैं वे बहुत कुछ प्राचीन पद्धतियों पर अवलम्बित हैं। परन्तु उत्तर भारत के आचार तथा सारे शुभाशुभ कार्य-परस्पर सम्मिलित रूप में ढलकर एक विशिष्ट भारतीय संस्कृति का आविर्भाव हुआ है जो कि न तो इसलामी तत्व का प्रदर्शन करता है और न हिन्दू तत्व का। वह एक विनूतन संस्कृति का प्रदर्शन कर रही है। भारत के मुसलमान तथा ईसाई बहुत करके वर्णान्तर द्वारा बने हैं, वस्तुतः पहले वे हिन्दू थे, इसलिये उनके आचार-व्यवहारों में सामंजस्य का प्रस्फुटन हो रहा है।

श्री नवरत्न दुगड़—

इतिहास हमें बताता है कि जिस संस्कृति में धर्म को महत्व दिया जाता है वह अधिक काल तक जीवित रहती है। और जो संस्कृति शक्ति, तर्क और भौतिक उन्नति पर विश्वास करती है वह अल्पायु होती है। ईसा ने सच ही कहा है, "धन्य हैं वे नम्र आत्मायें क्योंकि संसार अन्त में उन्हीं का तो है।" भारतीय संस्कृति धर्म को प्रमुखता देती है अतः उसका दीर्घायु होना निश्चित है।

श्री कैलाशपति—

भारतीय संस्कृति की अद्भुत जीवनशक्ति का कारण उसकी विशालता और उदारता है। चाहे जिस प्रकार की विदेशी शक्ति से उनका सामना हुआ, चाहे वह आक्रमणकारी यूनानी अथवा मुस्लिम सभ्यता हो, चाहे वह व्यापार के कारण सम्पर्क में आयी बाली द्वीप (जो हमारा उपनिवेश भी था) की सभ्यता हो अथवा वह लंका और चीन की सभ्यता हो, जहाँ यात्रियों और भिक्षुओं का आना-जाना होता रहा, इस देश के निवासियों ने उन सभी देशों की सभ्यता और धर्म को सहानुभूति और उत्कंठना की दृष्टि से देखा। उनमें कट्टरपन न था, अतएव वे किसी भी समाज, विचार और धर्म की उचित मान्यताओं को स्वीकार करने को प्रस्तुत रहते थे। इसी कारण हम वेदों और वेद-विरोधी बुद्ध-धर्म दोनों की इज्जत करते हैं।

श्री दिनकर सोनवलकर--

रूस के भाग्यनिर्माता स्टालिन ने एक बार कहा था, 'तीव्र घृणा ही हमारी सफलता का आधार है।" ऐसे व्यक्ति अथवा सिद्धान्त हमारे आदर्श कदापि नहीं हो सकते। प्रेम और सद्भावना तो हमारे मूलभूत सिद्धान्त हैं। तभी तो हमारे पूर्वजों ने घोषणा की थी "मा विद्विषामहै"।

अन्य संकलित विचार

यदि भारत का कोई सांस्कृतिक संदेश है तो वह है दर्शन में और धर्म में। हमारी संस्कृति के इतिहास की विशेषतायें ऋषि और धर्मग्रन्थ हैं। भारतीय संस्कृति का वह मंगलमय संदेश यदि जीवन में क्रियात्मक रूप पा सके तो जीवन सच्चे अर्थों में सांस्कृतिक हो सकेगा।

श्री सर्वपल्ली राधाकृष्णन्

अन्य विचार

अन्य विचार

अन्य विचार

अन्य विचार